सद्ज्ञान ग्रन्थ माला का अट्ठाईसवाँ पुष्प — २८

ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग।

—श्रीराम शर्मा आचार्य।

ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग।

❀ ज्ञान योग ❀

मनुष्य अपने आस पास जिन वस्तुओं को, जिन समस्याओं को देखता है उनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। जो भी चीजें उसके सामने आती हैं उनके बारे में वह स्वभावतः "क्यों ?" और 'कैसे ?' का प्रश्न उठाया करता है। खोज करने की, जानकारी प्राप्त करने की इच्छा-जिसे आध्यात्मिक भाषा में जिज्ञासा कहते हैं मानव-जीवन में अपना महत्व पूर्ण स्थान रखती हैं। जिज्ञासा का जिस प्रकार समाधान होता है उसी ढांचे में मनुष्य का जीवन ढलता जाता है। बालक के सामने कोई नई बात आती है तो वह उसके संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहता है, अभिभावकों से वाणी या आचरण द्वारा वह उस बात का जो उत्तर पाता है उसे हृदय में धारण कर लेता है यही धारणा कालान्तर में जाकर संस्कार या विश्वास का रूप धारण कर लेती है। विभिन्न मनुष्योंके आचार विचार, कार्य कलाप, विचार, विश्वास भिन्न, भिन्न दिखाई पड़ते हैं, इसका कारण यह है कि उनके मनमें जो जिज्ञासायें उत्पन्न होती रही हैं उनका उत्तर उन्हें उसी रूप में मिला है। यह आवश्यक नहीं कि माता पिता से ही यह समाधान हो, दूसरे लोगों से पुस्तकों से या अपने आप विचार करने पर भी जिज्ञासाओं का समाधान होता है फिर वही विश्वास बन जाते हैं।

अन्य जीव जन्तुओंके कार्यों और स्वभावों में इतना ज्यादा अन्तर नहीं पाया जाता पर मनुष्योंमें यह असमानता असाधारण रूप से दिखाई पड़ती है। किस प्रकार की जिज्ञासा उठती है और उसका किस प्रकार समाधान होता है यही इस विभिन्नता का प्रधान हेतु है। मनुष्य जन्म से तो स्वच्छ जल की भांति होता है पीछे उसकी जिज्ञासा का समाधान जिस ढङ्ग से होता जाता है वैसे ही विश्वास उसके मनमें घर जमाते चलते हैं और उन विश्वासों की प्रेरणा से ही आचरण बनने लगते हैं, बहुत बार प्रयोग किया हुआ आचरण आदत बन जाता है और दीर्घ कालीन धारणा संस्कार कहलाती है, मनुष्य की विशेषता उसके संस्कार और आदतों की विशेषता है, यही एक दूसरे के बीच में अन्तर है। 'क्यों ?' और 'कैसे ?' यही दो प्रश्न ऐसे हैं जो जीवन का निर्माण करते हैं,इन्हीं दो पहियोंके रथ पर मनुष्यकी मानसिक यात्रा चलती रहती है, यह रथ जिन परिस्थितियों के कारण जिधर चल पड़ता है, जीवन का वही स्वरूप बन जाता है।

किसी वस्तु की वास्तविकता को जानने के लिए तर्क का सहारा लेना पड़ता है। क्यों ? और कैसे ? की मीमांसा करने से ही मनुष्य सत्य के निकट पहुंच सकता है। इतना ही नहीं भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकाश भी ज्ञान संपादन द्वारा ही संभव है। इसलिये आध्यात्म पथ में ज्ञान योग की साधना सब से पहली साधना है। "पहले किसी वस्तु के बारे में अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त करो, पूरी तरह खोज करो, विवेककी तराजू में उसे ठीक तरह तोलो पीछे उसे ग्रहण करो" ज्ञान योग का मूल मन्तव्य यह है। बिना जानकारी के, बिना विचारे जो विचार या कार्य ग्रहण किये जाते हैं वे निर्बल और अस्थिरहोते हैं, वे जरा सा आघात लगने पर टूटकर गिर सकते हैं, उनमें दृढ़ता नहीं होती और न वे उतना निश्चित फल ही उपस्थित

करने में असमर्थ होते हैं। "पहले जानो, पीछे करो" का नारा इसीलिए ऋषियों ने लगाया है और आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने वाले को सबसे पहले अपने विषय की भली भांति जानकारी प्राप्त कर लेने के लिए कहा गया है ज्ञान योग का यही लक्ष्य है।

बालक को पाठशाला में भेजा जाता है जब वह बड़ा हो जाता है, तरुण होजाता है तो व्यवसाय में प्रवृत्त होता है, वृद्ध होने पर भजन सन्यास, बालकों को हँसाने खिलाने, प्रियजनों की देख भाल रखने उन्हें अच्छी सम्मतियां देने आदि का कार्य क्रम रहता है। ठीक यही योजना आध्यात्म मार्गमें है। प्रारंभिक दीक्षित को जानकारी प्राप्त करनी चाहिए यह ज्ञान योग है। अपनी दिल जमई अच्छी तरह कर लेने के उपरान्त, अपने विचार और विश्वासों को दृढ़ एवं निश्चित करने के पश्चात् तदनुसार कर्तव्य करना चाहिए, आचरणों को उसी ढांचे में ढालना चाहिए यह कर्मयोग है। ज्ञान और कर्म के आधार पर परिपक्व मनोभूमि बनती है, उच्च दार्शनिक दृष्टिकोण बनता है, त्याग, सेवा, उदारता एवं प्रेम की अजस्र धारा अन्तःकरण में से फूट निकलती है, उस प्रेम की धारा को ईश्वर की, नर नारायण की, उपासना में प्रवाहित करना यह भक्तियोग है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि बालकपन, विद्यार्थी अवस्था ज्ञान योग का समय है। तरुणाई, कर्तव्य परायणता। कर्म योग की स्थिति है। वृद्धावस्था, प्रेम परोपकार और आत्मीयता के प्रसार की दशा भक्ति योग की अवस्था है। जैसे पार्थिव शरीर के तीन पन होते हैं वैसे ही मानसिक शरीर की भी बालपन, तरुणाई, वृद्धावस्था होती हैं. शरीर के साथ साथ मन की अवस्थाऐं बदलने का कोई नियम नहीं है। यह हो सकता है कि किसी किशोर व्यक्ति की मनोभूमि इतनी ऊँची स्थिति से परिपूर्ण

होजाय जो मानसिक वृद्धावस्था कही जा सके। स्वामी शंकराचार्य, महर्षि शुकदेव जी आदि अनेक महापुरुष छोटी अवस्था में ज्ञान वृद्ध हुए हैं इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति वृद्धावस्था तक आत्मिक ज्ञान से शून्य रहा हो और फिर उसकी रुचि इधर बढ़ी हो, ऐसे व्यक्ति शरीर से वृद्ध होते हुए भी योग मार्ग में बालक ही कहे जायेंगे। जैसे शरीर धारण करने पर अनिवार्यतः तीनों अवस्थाओं में होकर क्रमशः गुजरना पड़ता है वैसे ही मानसिक अवस्थाओं को भी क्रम क्रम से ही पार करना होता है। कोई बच्चा बीच की सब अवस्थाओं को छोड़कर एक दम वृद्ध होतेहुए नहीं देखा गया और न यही देखा गया है कि कोई आत्माभ्यासी ज्ञान और कर्म को छलांग कर एक दम भक्तियोग में प्रवृत्त होजाय। प्रेम-जिसको योग की भाषा में 'भक्ति' कहते हैं एक ऐसी अवस्था है जो चिरकाल तक अन्तःकरण को स्वच्छ करते रहने के उपरान्त उदय होती है। अन्तःचेतना को जब सतत अभ्यास के बाद अत्यंत उदार, निस्वार्थ, विस्तरित, स्वार्थ रहित बना लिया जाता है, पराये और अपने का भेद कम होजाता है तब सच्चा प्रेम उदय होता है, यह एक दिन की साधना से नहीं हो सकता। इसके लिए प्रारंभिक तैयारी की बहुत दिनों तक आवश्यकता होती है। यह तैयारी क्रमशः आगे बढ़ने का प्रयत्न जारी रखने से ही हो सकती है।

भक्त बनने से पहले, कर्तव्य परायण होना आवश्यक है और कर्म में कुशल होने के लिये ज्ञान की जरूरत है, तात्पर्य यह कि सब से पहले सद् ज्ञान की आवश्यकता है, इसलिये आत्म विद्या के आचार्यों की सुनिश्चित सम्मति है कि पहले वास्तविकता को समझना चाहिये पीछे कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, यही ठीक तरीका है।

भारत वर्ष आध्यात्मिक अन्वेषणों की जन्म भूमि रहा है। यहाँ आत्म विज्ञान की करोड़ों वर्ष तक असाधारण खोज बीन हुई है, इसलिए इस देश की मनोभूमि में बड़ी भारी मात्रा में उर्वरा शक्ति उत्पन्न हो गई है प्राचीन काल में जब कि उच्च कोटि के दार्शनिकों, सच्चे ब्राह्मणों और तपस्वी योगियों की बहुतायत थी उस उर्वरा शक्ति का सदुपयोग किया जाता था और मानव जीवन को सुखी बनाने वाले आधार उत्पन्न किये जातेथे, पिछले कुछ हजार वर्ष से हम एक ऐसे दुर्भाग्य पूर्ण अंधेरे युग में होकर गुजरे हैं जिससे सच्चे तत्व ज्ञानियों का लोप सा हो गया है। अच्छे उपजाऊ खेत को यदि कुछ वर्ष यों ही पड़ा छोड़ दिया जाय तो उसमें बड़े प्रबल वेग के साथ घास पात, झाड़ झंकाड़ और दूसरे जंगली पौधे उपज पड़ते हैं, यदि कुछ अधिक दिन तक इस जंगली उपज पर रोक थाम न लगाई जाय उन्हें स्वेच्छा पूर्वक बढ़ने दिया जाय तो वह भूमि सघन बन सा रूप धारण कर लेगी जिस जगह गेहूं, ऊख, कपास, तिलहन आदि उपजते थे वहां ऊँटकटारे, करील, आक, बबूल आदि की भरमार दिखाई देने लगेगी। हमारे देश की आज ऐसी ही दशा है। पिछली शताब्दियों में इतने पंथ, सम्प्रदाय, फिरके, दल उपज पड़े हैं जिनकी कुछ शुमार नहीं, ऐसे ऐसे ऊट पटांग विचार और विश्वास फैल पड़े हैं जिनका कोई हिसाब नहीं, आज हमारा आध्यात्मवाद एक अजायब घर बना हुआ है जिसमें नकटे, बूचे, लँगड़े, लूले, काने कुबड़े तरह तरह की मत दिखाई पड़ते हैं, यह एक दूसरे के बिलकुल विपरीत और कट्टर विरोधी हैं, इनमें से हर एक अपने का सच्चा और बाकी सबको झूँठा साबित करता है।

जिस मनुष्य के हृदय में सच्चे ज्ञान की पिपासा तीव्र गति से उठ रही है, जो सत्य का पुजारी है और सत्य को प्राप्त

करना चाहता है वह इस सम्प्रदायिक अजायब घर में कौतूहल के अतिरिक्त और क्या प्राप्त कर सकता है ? " अमुक पुस्तक या अमुक व्यक्ति का ऐसा मत है" केवल इसी आधार पर सत्य का पुजारी उस बात को ठीक नहीं मान सकता और न उसका अन्धानुकरण करने के लिए ही तैयार हो सकता है। खासतौर से इस जमाने में जब कि मद्य, मांस, व्यभिचार, मुद्रा, झूँठ, ठगी अनुदारता, अहंकार आदि तक को आत्मवाद में सम्मिलित कर लिया गया है कोई किस प्रकार किसी पंथ को वे समझे बूझे अनुसरण कर सकता है। किम्वदन्तियां, कपोल कल्पनाएं, दन्त कथाऐं, असंभव और अस्वाभाविक गाथाएं, सच्ची जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सकतीं, पहले जिस खेत में बहुमूल्य फलों का बाग था उसमें यदि आज आक ढाक खड़े हुए हैं तो उन्हें बहुमूल्य फलों का स्थान नहीं मिल सकता। सच्चे आत्मवाद के स्थान पर हरामखोर, निठल्ले, अकर्मण्य, और ढोंगियों ने जो बदमाशियां फैला रखी हैं उनकी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

ऐसी अविश्वस्त अवस्था आज अधिक परिणाम में है पर थोड़े बहुत परिणाम में वह सदा ही रहती आई है। कोई अच्छे सिद्धान्त भी कालान्तर में अनुपयोगी होजाते हैं अथवा उन उत्तम सिद्धान्तों में अनुत्तम तत्वों के मिलजाने से उनका रूप बिगड़ जाता है, ऐसी दशा में उनके संशोधन, एवं परिवर्तन की आवश्यकता होती है यह शोधन कार्य न्यूनाधिक मात्रा में सदा ही होता रहता है पर आज तो उसमें बहुत बड़े परिणाम में संशोधन करने की आवश्यकता है। यह कार्य ज्ञान योग द्वारा ही संभव है। ज्ञान योगी का कर्तव्य हंस के समान है वह मिलावट को भली प्रकार परखने के उपरान्त दूध पानी को अलग अलग कर देता है और उसमें से केवल उपयोगी तत्व ही ग्रहण करता है। प्राचीन कालके ज्ञान योगी अपने समय की मिलावटों

और अव्यवस्थाओं का संशोधन करते थे आज के ज्ञान योगीको अपने समय की उलझनें सुलझानी होंगी।

ज्ञान योगी 'सत्य का निष्पक्ष पुजारी' होता है, वह अन्ध विश्वास को छोड़कर विवेक को अपना प्रधान साधन बनाता है, विवेक की कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त जो बातें उचित जँचती हैं उन्हें ही वह ग्रहण करता है। सत्य का प्राप्त होना विवेक द्वारा ही संभव है इसलिए ज्ञानी विवेक को जगाने की साधना में प्रवृत्त होता है। मनोविज्ञान शास्त्र के विद्वान जानते हैं कि बुद्धि एकाङ्गी वस्तु है, मन की इच्छा के अनुसार उसकी दौड़ होती है यदि मनमें किसी सम्प्रदाय के प्रति विशेष राग और दूसरे सम्प्रदाय के लिए विशेष द्वेष समाया हुआहै तो बुद्धि का कार्य यही होगा कि वह ऐसे तर्क और प्रमाण ढूंढ निकाले जिससे प्रिय पक्ष का समर्थन और अप्रिय पक्ष का खंडन होता हो। इस प्रकार बुद्धि द्वारा मनोवांछा का समर्थन तो हो सकता है पर सत्य की शोध नहीं हो सकती। निष्पक्ष बुद्धि जो, उच्च अन्तःकरण में उत्पन्न होती है, विवेक कहलाती है, उसीके द्वारा सत्य को प्राप्त किया जाता है।

बुद्धि को सीमाबद्ध, अनुदार, संकीर्ण करने वाले तत्वोंमें अहङ्कार, अज्ञान, संगति जन्य संस्कार, पैतृक वृत्तियां, पक्षपात, स्वार्थ, तर्क हीन विश्वास यह प्रधान हैं। जीवन के आरंभ काल से ही यह तत्व मनके भीतरी भाग में अपना अड्डा जमाते रहते हैं और इतने मजबूत हो जाते हैं कि सामान्य बुद्धि उन्हें हटाने में समर्थ नहीं होती वरन् उस बेचारी को इस मजबूत जमघट के दबाव में आकर केवल समर्थन करने के लिए विवश होना पड़ता है। अपनी अनुचित बात को उचित सिद्ध करने में धूर्तता को छिपाने में, मनकी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए योजनायें बनाने और उन्हें कार्य रूपमें परिणत करनेमें, बुद्धि का अधिकांश

भाग लगा रहता है इसलिए वह ऐसी मलीन और उथली होजाती है कि सत्य की खोज में उसे बिलकुल असफल रहना पड़ता है। हम देखते हैं कि लोग अपनी बात को सत्य और दूसरे की बात को असत्य साबित करने के लिए खूब सिर फोड़ते हैं पर हारता कोई नहीं, फैसला कुछ नहीं होता, मलीन बुद्धि की लड़ाई में इससे अधिक और क्या आशा रखी जा सकती है ?

ज्ञान योग के शिष्यों को गुरु लोग उपदेश करते हैं कि एकान्त स्थान में चित्त को एकाग्र करके आत्मा का ज्योति मान स्वरूप मस्तिष्क में ध्यान करो, उसे विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप अनुभव करो यह ध्यान अधिक मनोयोग पूर्वक अधिक समय तक करना चाहिए। साथ ही अहङ्कार, अज्ञान, संगति जन्य संस्कार, पैतृक वृत्तियां, पक्षपात, स्वार्थ, तर्कहीन विश्वास आदि मनोविकारों की गहराई को भली प्रकार समझते हुए उन्हें जड़ से उखाड़कर अलग रख देना चाहिए। ध्यान द्वारा अपनी स्थिति को शरीर और मन से ऊँची उठाकर विशुद्ध आत्मा में अनुभव करना चाहिए। इस स्थिति में जो स्वच्छ-निस्वार्थ बुद्धि उत्पन्न होती है वही विवेक है उसके द्वारा जो निर्णय होता है वह सत्य के अधिकतम निकट होता है।

उपरोक्त साधना को पूर्वकालीन साधक लोग तपोवनों में जाकर अधिक व्यवस्था पूर्वक करते थे। हम अपने पाठकों को उपरोक्त साधना का सारांश इस प्रकार बताते हैं कि-वे अपने को न्यायमूर्ति निष्पक्ष, जज अनुभव करें, अपने निजी स्वभावों संस्कारों और हानि लाभों का विचार बिलकुल हटादें, पक्ष और विपक्ष की वास्तविकता पर गंभीर और सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से विचार करें तदुपरान्त देश काल, पात्र का ध्यान रखते हुए जो निर्णय ठीक बैठता हो उसे ही स्वीकार करें उसे ही ग्रहण करें।

इस दृष्टि से विचार करने पर, गंभीर विवेचना करने पर साधक को अपने में और दूसरों में कभी कभी भारी त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं, इन त्रुटियोंकी-प्रचुरता और भयंकरताको देखकर वह डर जाता है, सिटपिटा जाता है और सोचता है कि कहीं मेरा निर्णय ही तो दोष पूर्ण नहीं है ? बड़े बड़े लोग जिस कार्य को करते हैं और जिसका समर्थन करते हैं वह बात इतनी दोष पूर्ण कैसे हो सकती है ? यह असमंजस निरर्थक है गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन के इसी असमंजस को दूर किया है। विशाल सेना समूह जिनके साथ लड़ने को खड़ा है, भीष्म से ब्रह्मचारी, द्रोणाचार्य से महर्षि, कर्ण से दानी जिन कौरवों के साथ हैं अर्जुन सोचता है कि उस पक्ष का विरोध करना उचित नहीं, कृष्ण उसे समझाते हैं कि सत्य के आगे व्यक्तियों का कोई मूल्य नहीं चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों, ज्ञानी की यही दृष्टि रहती है वह लौकिक दृष्टिसे अकेला भले ही हो, पर विवेक उसके साथ में उतना बड़ा सहायक है जिसकी तुलना लाखों पुस्तकों और करोड़ों व्यक्तियों से नहीं हो सकती। यदि विवेक कहे कि अमुक बात ठीक है तो उसे ही ग्रहण करना चाहिए; भले ही अनेक लोग प्रतिकूल कहते या करते हों। ज्ञान योग का संदेह है कि—"सत्य को ग्रहण करो, विवेक पर अवलम्बित रहो, औचित्य पर डट जाओ, अन्तःकरणमें बैठा हुआ परमात्मा जो आदेश करे उसेसुनो और तदनुकूल आचरण करो।" ज्ञानी का यही कर्तव्य पथ है वह बालू में से चांदी निकालता है और रेत को छोड़ देता है, गन्ने में से रस ग्रहण करताहै और छिलके फेंक देता है, नाना प्रकार के विचार और विश्वासों में से विवेक द्वारा सत्य को ही स्वीकार करता है।

ज्ञानी की अपनी कुछ निजी मान्यताऐं भी होती हैं। वह जानता है कि मनुष्य को अब तक जो विभिन्न विषयों में

जानकारी प्राप्त है वह बहुत ही परिमित हैं, बहुत ही अधूरी है, वह महान् सत्य का एक असंख्य वां एक धुँधला भाग मात्र है। मनुष्य ने शरीर विज्ञान की काफी खोज की है किन्तु अभी यह तक मालूम नहीं होसका कि तिल्ली का वास्तविक कार्य क्या है? औषधि विज्ञान की बहुत कुछ ढूँढ खोज हुई है पर किसी छोटे से छोटे रोग की अभी तक कोई शर्तिया दवा न निकल सकी, अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि हुई पर उनमें से एक भी सुख शान्ति का आविर्भाव न कर सका. भूगर्भ, विद्या, खगोल विद्या, प्राणि-शास्त्र के संबंध में बहुत सी बातें जानली गई हैं पर अभी जो जो जानना बाकी है वह जानकारी की अपेक्षा करोड़ों गुना है। धर्म शास्त्र, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र के बारे में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं तो भी वे अधूरे हैं. कर्मका फलका मिलना, न मिलना ईश्वर का होना न होना, मृत्यु के उपरान्त क्या होना यह प्रश्न आज भी उतने ही जटिल पेचीदा और उलझे हुए पड़े हैं जितने कि यह मनुष्य जाति के आरंभिक विकाश के समय थे। मनुष्य की अल्पज्ञता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान योगी सदा अपने मस्तिष्क को आगे की खोजों के लिए खुला रखता है, वह किसी बात में इसलिए दुराग्रह नहीं करता कि पुराने लोग ऐसा कह गये हैं। पुराने लोग भी आखिर मनुष्य ही थे, उनमें भी हमारी ही तरह अपूर्णता होना संभव है। इन बातों को ध्यान में रखता हुआ वह अपने ज्ञान को बढ़ाता है, खोज करताहै, सतर्क रहता है, भूलों को सुधारता है, और दुनियां के कबाड़खाने में से परख परख कर चुन चुन कर उपयोगी सिद्धान्तों को स्वीकार करताहै और उन्हें ही आचरण में लाता है। अपनी गलती मानने, उसे सुधारने और विवेक युक्त सिद्धान्त को स्वीकार करने में उसे जरा भी झेंप या हिचकिचाहट नहीं होती।

निरंतर विद्याध्ययन, सद्ग्रन्थावलोकन, सत्संग, श्रवण,

मनन करना, विश्व की समस्याओं से परिचित रहना आदि उपायों द्वारा अपने मस्तिष्क को अधिक सूक्ष्म एवं व्यवहारिक बनना यह ज्ञान संचय का सर्व विदित तरीका है। अपने आप किसी विषय पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की शक्ति सबंर और संस्कृत मस्तिष्कों में ही होती है, और सुतीक्ष्ण मस्तिष्क अधिक अध्ययन, श्रवण तथा मनन से बनता है, इसलिए 'ज्ञानी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह मानव जीवन से संबंध रखने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में जितनी अधिक जानकारी संग्रह कर सके, करे।

स्थूल बुद्धि की भूमिका में से नीचे उतरना, अपना दृष्टिकोण दार्शनिक बनाना ज्ञान योग की व्यवहारिक शिक्षा है। दुनियादार आदमी संसार को उस रूप में देखता है जिस रूपमें कि उसकी इन्द्रियां देखती हैं, आंखों से जो वस्तु जैसी दिखाई पड़ती है, जिह्वा से जैसा स्वाद आता है, स्पर्श करने पर जैसी गुदगुदी उठती है उसी रूप में संसार को वह समझता है, सिनेमा देखने में आंखों को बड़ा मजा आता है, मिठाई खानेमें जीभ खूब प्रसन्नता अनुभव करती है, मैथुन में स्पर्शेन्द्रिय को गुदगुदी होती है अज्ञानी इतना ही जानता है वह संसार को इन्द्रियों की कसौटी पर कसताहै और उनके द्वारा जो वस्तु जैसी प्रिय अप्रिय जँचती है उसे वैसा ही मानता है। किन्तु ज्ञान इससे सन्तुष्ट नहीं होता वह इन्द्रियों पर निर्भर नहीं रहता और न मन के वश में काम करने वाली बुद्धि पर विश्वास करता है। उसे इस झूठी दुनियां में एक विवेक की कसौटी विश्वासनीय जँचती है और वह इसीपर पूर्णतया अवलम्बित रहता है।

जब कि दुनियांदार आदमी इस जगत को अपनी विलास भूमि और जीवन को खाने पीने मौज उड़ाने का साधन मानता है तब दार्शनिक विचार रखने वाला मनुष्य संसार की प्रत्येक

वस्तु को ईश्वर की महत्ता से पूरित देखता है, संसार को ईश्वर की सुरम्य वाटिका अनुभव करता और तपोभूमि की आदर भावना से इस विश्व में अपने कर्तव्य को कठोर तपस्या करता है जीवन उसके लिए एक ईश्वरीय धरोहर है उसका एक एक क्षण वह अपने परम लक्ष्य की प्राप्तिमें लगाताहै। वह बहिर्मुखी दृष्टि से दुनियां को नहीं देखता वरन् प्रत्येक वस्तु और कार्य को सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से निरीक्षण करता है उसी तरीके से उसपर विचार करता है और वैसी ही अनुभूति ग्रहण करता है।

एक ही मनुष्य विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। स्त्री उसे प्राण प्रिय पति की दृष्टि से देखती है, कन्या पिता का भाव रखती है, माता पिता उसे स्नेह भाजन पुत्र समझते हैं, बहिन के लिए वह भाई है, मित्रोंके लिए अच्छा सखा है, दुकानदार के लिए ग्राहक है, विरोधी के लिए शत्रु है, राजा के लिए प्रजा है, सिंह के लिए एक स्वादिष्ट भोजन है चींटी के लिए एक चलता फिरता पर्वत है, इस प्रकार एक ही मनुष्य के संबंध में इतनी प्रथक दृष्टियां रखी जाती हैं कि उनमें आपस में भारी अनेक होता है। जीवन और जगत के बारे में भी ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में इसी प्रकार जमीन आसमान का अन्तर होता है अज्ञानी हर वस्तु को स्वार्थ, भोग, लालच भरी दृष्टि से देखता है किन्तु ज्ञानी के लिए इस विश्व का एक एक परमाणु, त्याग, सेवा, प्रेम, उपकार, कर्तव्य और पवित्रता का क्षेत्र है। अज्ञानी को वस्तुओं का सौन्दर्य स्वार्थ के कारण दिखाई देता है जो वस्तु जिस मात्रा में उसके स्वार्थ की पूर्ति करती है वह उसे उतनी ही प्रिय लगती है किन्तु दार्शनिक की दृष्टि में विश्व का प्रत्येक परमाणु ईश्वरीय अखंड ज्योति से जगमगा रहा है इसलिए वह सौंदर्य की खानि है हर वस्तु उसे सुन्दर ही सुन्दर दिखाई पड़ती है। जीवधारियों को वह ईश्वर

की चलती फिरती प्रतिमा देखता है उसके लिए अपनेको उत्सर्ग कर देने की इच्छा करता रहता है। अपने आपको ईश्वर का अमर राजकुमार मानता है और अपने आचरण तथा कार्यों को अपने गौरव के अनुरूप ही रखने का प्रयत्न करता है। अज्ञानी को स्वार्थ और भोग का नशा चढ़ा रहता है वह अविवेक अन्धा होकर इन्द्रिय तृप्ति में जुटा रहता है। ज्ञानी को सत्य की शोध की लगन लगी रहती है, संसार की हर वस्तु उसे ऐसी प्रतीत होती है मानों उसकी कर्तव्य परायणता की परीक्षा लेने के लिए खड़ी हुई है। वह अपने परीक्षकों को सामने खड़ा देखकर हर घड़ी सावधान रहता है और सतर्क रहता है कि कहीं मैं फेल न हो जाऊँगा, उसका दृष्टि बिन्दु भोग या स्वार्थ का नहीं वरन् कर्तव्य परायणता का रहता है, हर वस्तु के प्रति अपने पवित्र उत्तरदायित्व को ठीक रीति से पूरा करने के लिए वह हर घड़ी कमर कसकर युद्ध रत सैनिक की तरह जागरूक रहता है इसी प्रकार अपने जीवन की ईश्वरीय धरोहर को उसी के कामों में उसी की आदेश पूर्ति में व्यय करता है। इस दिशा में भी वह जागरूक रहता है कि कहीं ईश्वर की अमानत में खयानत न होजाय, जिस कार्य के लिए मुझे भेजा गया है उसे छोड़कर कहीं प्रपंच में न फस जाऊँ। सावधानी, सतर्कता, कर्तव्य परायणता, जागरूकता, सत्यपरायणता, ज्ञानी के प्रधान कार्य रहते हैं।

गीता में कहा गया है कि जब साधारण मनुष्य रात्रि समझ कर सोये रहते हैं तब योगी जागता रहता है यह पलंग पर पड़कर सोना और जागना नहीं, वरन् अपनी विचार दृष्टिको निद्रित या सजग रखना है। अज्ञानी लोगों के लिए संसार वैसा ही है जैसा कि आंख, जिह्वा, त्वचा आदि स्थूल इन्द्रियां बताती हैं, वह इससे अधिक कुछ नहीं सोचता, सूक्ष्म विचारकता को

सोया का सोया ही पड़ा रहने देता है किन्तु ज्ञानी अन्तःकरण की विवेक दृष्टि से कार्य कारण की गम्भीरता ढूंढता है, विश्व को वास्तविक रूप से देखता है और तुच्छ स्वार्थों को छोड़कर अपने महान उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए अत्यन्त सावधानी के साथ जुटा रहता है।

ज्ञानयोग आध्यात्म मार्ग की प्रारंभिक साधना है जिस पर अवलंबित होना हर एक प्राथमिक जिज्ञासु के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। हम अपने पाठकों को यह सलाह देंगे कि वे आत्मोन्नति के पथ पर कदम बढ़ाते हुए वास्तविकता को समझने के लिए तीव्र उत्कण्ठा के साथ प्रयत्नशील रहें, अज्ञान के अंधेरे में से निकलकर ज्ञान के प्रकाश में आवें और सत्य को समझने तथा प्राप्त करने का उद्योग करें।
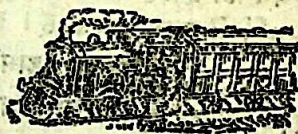
कर्म योग

गीता ने "कर्म की कुशलता" को योग बताया है। वास्तव में कर्म एक ऐसा तत्व है जिसका उपयोग हर एक को अनिवार्यतः करना पड़ता है, शरीर और मनकी रचना ही इस प्रकार हुई है कि उन्हें हर घड़ी काम में जुटा रहना पड़ता है, जब नींद में पड़कर हम सोजाते हैं तो भी शरीर और मन की भीतरी क्रियाऐं बराबर जारी रहती हैं, यदि एक क्षण के लिए भी यह रुक जांय तो बस मृत्यु ही समझिए। निद्रावस्था के अतिरिक्त शेष समय में शरीर की वाह्य क्रियाऐं भी जारी रखनी पड़ती हैं, शारीरिक और मानसिक भूखें ऐसी प्रबल हैं कि वे बलात् मनुष्य को कार्य करने के लिए खींच लेजाती हैं. उनसे बचाने का न तो कोई उपाय है और न कुछ लाभ।

कर्म का कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है। ऐसा कोई कर्म नहीं जो निष्फल जाता है निश्चय पूर्वक उसका परिणाम उपस्थित होता ही है। मनुष्य को प्रकृति के नियमों की अभी बहुत ही कम जानकारी प्राप्त हुई है, उस अधूरी जानकारी के आधार पर यह पता लगाना कठिन है कि इस कार्य का निश्चय पूर्वक यही फल होगा। नदी में तैरने के लिए एक तैराक कूदता है और सोचता है कि मैं तैरता हुआ दूसरे किनारे पर पहुंच जाऊँगा पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह अपने प्रयत्न में सफल न हो, बीच में ही डूब जाय और दूसरा किनारा प्राप्त न हो सके। एक व्यापारी लाभ कमाने के लिए व्यापार करता है पर यह भी सम्भव है कि कोई ऐसे कारण उपस्थित हो जांय

कि लगाई हुई पूंजी भी हाथ से चली जाय। एक डाक्टर रोगी को रोग मुक्त करने के लिए बहुत मनोयोग के साथ चिकित्सा करता है पर यह संभव है कि रोग उल्टा बढ़ जाय या रोगी की मृत्यु होजाय।

करोड़ों वर्ष से मनुष्य जाति जो अनुभव एकत्रित करती चली आ रही है, उसके आधार पर यद्यपि बहुत अंशों में यह मालूम होगया है कि अमुक प्रकार के कामों का परिणाम अमुक प्रकार का होता है जैसे पाप का फल दुख तथा पुण्य का फल होना जान लिया गया है तो भी ऐसे प्रसंग आते देखे गये हैं कि पाप से सुख और पुण्य से दुख मिलता है। ऐसे अवसरों पर बुद्धि को विचलित करने की जरूरत नहीं है, कारण यही है कि अभी हर एक कर्म विषयक एक मोटी रूप रेखा ही मालूम हो सका है, उसमें जो छोटी छोटी बारीकियां और पेचीदगियां हैं उनका ठीक ठीक ज्ञान अभी प्राप्त नहीं हुआ है आगे चलकर शायद मानव बुद्धि कर्म फल विषयक उन सूक्ष्म रहस्यों का भी पता लगाले जो अभी तक बहुत ही उलझे हुए और रहस्य मय बने पड़े हैं।

दो चार दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति मोटर चलानेकी क्रिया जान लेता है और उन मोटे मोटे नियमों तथा चलाने बंद करने के पुर्जों का परिचय प्राप्त करके मोटर को चला ले जा सकता है और निश्चित स्थान पर लेकर पहुंच सकता है, परन्तु यदि मशीन के किसी भीतरी भाग में कोई ऐसी बारीक खराबी उत्पन्न होजाय जिसके कारण मोटर बीच में ही रुक जाय तो नौ सिखिये ड्राइवर के लिए एक बड़ी उलझन भरी बात होगी। वह सोचेगा कि मैंने चलाने का जो ज्ञान प्राप्त किया है वह कहीं झूंठा तो नहीं है। वास्तव में उसका ज्ञान झूँठा नहीं है वरन अपूर्ण है, जितना कुछ उसने सीखा है वह तो ठीक है पर जो

सीखना बाकी है वहीं कमी है, यदि यह ड्राइवर इंजन के बारीक कल पुर्जों के बारे में सारे नियमोपनियम जानता और खराबी को ठीक कर लेने के साधन उसके पास होते तो वह रास्ते में रुक गई मोटर को सँभाल लेता और नियत स्थान तक जा पहुंचता।

उस नौसिखिये ड्राइवर की अवस्था में ही आज मनुष्य जाति है। उसे मोटे मोटे नियम तो मालूम हैं कि ब्रह्मचर्य से आरोग्य वृद्धि होती है और वीर्य पात से स्वास्थ्य गिरता है, अधिकांश में यह नियम ठीक भी उतरता है पर ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं कि ब्रह्मचारी दुर्बल एवं अस्वस्थ रहें और व्यभिचारी लोहे के लट्ठ की तरह मजबूत, स्वस्थ और बलवान रहें। रजवाड़ों में हमने अनेक राजपूत ऐसे देखे हैं जिनके दर्जनों विवाहित और पचीसियों रखेलियां रहती हैं परले सिरे के व्यभिचारी हैं एक एक दिन में चार चार बार वीर्यपात करते हैं, मद्य मांस, आदि स्वास्थ्य विरोधी वस्तुएं खाते हैं फिर भी लोहे के लट्ठ की तरह स्वस्थ और मजबूत हैं। ऐसे उदाहरणोंको देख कर हम ब्रह्मचर्यका खंडन या व्यभिचारका मंडन नहीं कर सकते केवल इतना ही कह सकते हैं कि स्वास्थ्य संबंधी कुछ अन्य ज्ञात, अज्ञात नियम भी हैं जिनके कारण ब्रह्मचर्य की उपयोगिता को पूर्णतः फलितार्थ होने में कभी २ बाधा उपस्थित होजाती है। फिर भी, उपरोक्त विपरीत उदाहरणों के होते हुए भी ब्रह्मचर्य का ही समर्थन करना पड़ेगा क्योंकि अधिकांश में ब्रह्मचर्य की उपयोगिता साबित करनेवाले ही उदाहरण पाये जाते हैं।

उपरोक्त पंक्तियों में पाठकों को हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि कर्म करना जीवन का अनिवार्य नियम है, कर्म का फल अवश्य ही मिलता है पर निश्चयात्मक रूप से यह नहीं

कहा जा सकता कि अमुक कर्म का अमुक समय तक, अमुक प्रकार का फल हो ही जायगा, उसमें अपवाद उपस्थित हैं और बहुत बड़े परिमाण में होते हैं। पुराने कर्म आगे फल देते हैं या अब के कर्म आगे फल देते हैं या ईश्वर की मर्जी ऐसी ही है या भाग्य का ऐसा ही लेखा है इस प्रकार के अनेक उत्तरों से इन अप्रत्याशित घटनाओं का समाधान किया जाता है, और किया जा सकता है, हम उनकी गहराइयों में नहीं उतरना चाहते हमें तो यहाँ यही कहना है कि कारण कुछ भी क्यों न हो पर प्रत्यक्ष बात यह है कि सदैव मन चाहे अवसर प्राप्त नहीं होते। ठीक तरह से निर्धारित नियमों का पालन करते हुए भी उसका फल कई बार ऐसा होता है भारी संदेह, उलझन. गड़बड़ और बेचैनी उत्पन्न कर देता है। मानव जाति चाहती है कि ऐसा न हो, कोई ऐसे नियम मालूम होजावें जो बिलकुल खरे और अपवाद रहित निकलें. इस इच्छा की पूर्ति के लिए जी तोड़ परिश्रम हो रहे हैं, दिन दिन प्रगति हो रही है, प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का धीरे धीरे उद्घाटन हो रहा है, पर अभी तक जो कुछ प्राप्त हो सका है वह बहुत ही कम है, बहुत ही अपूर्ण है, बहुत ही अपर्याप्त है। प्रकृति नियम रहित है, ऐसी बात नहीं, ईश्वरीय शासन में अव्यवस्था नहीं है. पर उस व्यवस्था का रहस्य बहुत ही दुरूह होने के कारण 'नेति' 'नेति' करकर ही संतोष करना पड़ता है।

जब कर्म फल इतना संदिग्ध और अनिश्चित है तो उस पर अवलम्बित रहकर कार्य करना अपने को दुख और निराशा के समुद्र में धकेल देने के बराबर है। भगवान कृष्ण ने गीता में निष्काम कर्मयोग का उपदेश किया है। वे कहते हैं कि फल की आशा छोड़कर कर्म करना चाहिए। इस कथन का तात्पर्य यह है कि काम तो मन लगाकर करो पूरे उत्साह से करो पर

फल की लालसा में उतावले मत बनो। कई व्यक्ति निष्काम कर्म का गलत अर्थ करते हैं उनका खयाल होता है कि बिना विचारे, बिना आगा पीछे सोचे बिना हानि लाभ का विवेक किये यों ही अन्धा धुन्ध काम करते जाना चाहिए और जो कुछ उलटा सीधा नतीजा निकले उसी से संतुष्ट रहना चाहिए। यह अर्थ बिलकुल गलत, असंभव और मानव स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। कार्य की उत्पत्ति कारण से होती है, बिना किसी लाभ की आशा से कोई मनुष्य कार्य को कै[illegible] नहीं [illegible] ? बिना किसी स्वार्थ के एक कदम [illegible] किसी [illegible] में नहीं [illegible] सकता फिर यह सोचना मूर्खता है कि फल का विचार किये बिना कर्म आरंभ किया जायगा। यदि बेसमझे कोई काम शुरू भी किया जाय तो उसे उत्साह दृढ़ता के साथ विघ्न बाधाओं का मुकाबिला करते हुए बराबर जारी रखना तो सर्वथा असंभव ही समझना चाहिये।

किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसके परिणाम के संबंध में भली प्रकार विचार करना चाहिए, खूब बारीकी के साथ हानि लाभ का निरूपण करना चाहिए, यदि सब प्रकार उस कार्य का करना उचित और हितकर जान पड़े तो ही उसे करने के लिए कदम उठाना चाहिए किन्तु जब उसे आरंभ कर दिया जाय तो फल की लालसा में हर घड़ी लार टपकाते रहने की अपेक्षा उस कार्य प्रणाली में इतना व्यस्त होजाना चाहिए कि फल की ओर ध्यान ही न जावे। छोटे बालक आम की गुठली मिट्टी में गाड़ देते हैं उसपर जरा सा पानी छिड़कते हैं, फिर दो चार मिनट बाद ही उस गुठली को उखाड़ कर देखते हैं कि अभी उसमें से अंकुर निकला या नहीं ? वे चाहते हैं कि हमारी बोई हुई गुठली बहुत जल्द बड़ा भारी विशाल वृक्ष बन जाय, जिसपर मनों मीठे मीठे फल लगें और हम उन्हें भर पेट

खावें। फल की लालसा इतनी तीव्र होती है कि उन्हें एक एक क्षण भारी पड़ता है गुठली स्वाभाविक रीति से उपज कर विशाल वृक्ष का रूप धारण करे इतने समय तक प्रतीक्षा करने का धैर्य उनमें नहीं होता इसलिए घण्टे दो घण्टे या एक दो दिन तो वे गुठली को उलट पलट कर देखते हैं पीछे उधर से निराशा होकर उस मधुर फल खाने के स्वप्नको दुख पूर्वक छोड़ देते हैं, कभी गुठली में दोष लगाते हैं कभी जमीन या पानी को कोसते हैं, कभी भाग्य पर टिप्पणी करते हैं, कभी अपने को अयोग्य ठहराते हैं। इसी प्रकार वे बालक दूसरा काम शुरू करते हैं और इसी क्रम से उतावली में उसे भी छोड़ देते हैं, यही क्रम चलता है उनके हाथ केवल असफलता और उससे उत्पन्न होने वाली निराशा तथा बेचैनी ही हाथ लगती है। अन्त में वे बहुत ही बेजार और किंकर्तव्य विमूढ़ होजाते हैं।

फल की आशा पर निर्भर रहने वालों को ठीक इन बालकों का ही उदाहरण बनना पड़ता है। फल प्राप्त होने के लिए जो सुनहरी सुखद कल्पनाएँ बना रखी हैं यदि उनके चरितार्थ होने में विलम्ब लगता है तो वह उतावला मनुष्य धैर्य छोड़ देता है, अधीर होकर दूसरों पर दोषारोपण करता है, सिर धुनता है, हाथ मलता है, पछताता है, दुखी होता है, और न जाने क्या क्या न करने योग्य कार्य करता है या करने की इच्छा करता है।

कहते हैं कि लालच मनुष्य को अन्धा बना देता है, अन्धे को मार्ग नहीं सूझ पड़ता, जो आदमी पैसा, या यश, उपार्जित करने के लिए छटपटा रहा है वह लालच के मारे न करने योग्य कार्यों को कर बैठता है और फिर उसका दुखदायी परिणाम भोगता है। एक दम धनी बनजाने की इच्छा से लोग चोरी डकैती आदि भयानक कार्यों में प्रवृत्त होजाते हैं और फिर

लोक परलोक में दुख भोगते हैं। लालच की लगन इतनी प्रबल होती है कि उसी में बुद्धि का अधिकांश भाग खप जाता है, सुखद कल्पनाओं के खयाली महल बनने में, इतनी अधिक रुचि हो जाती है कि कार्य करने के तरीके में त्रुटि रहने लगती है, उसमें पूरा ध्यान और पूरी शक्ति का संयोग नहीं हो पाता। जितनी सावधानी रखी जानी चाहिए उतनी नहीं रह पाती, कार्य प्रणाली में जो दोष आगये हैं और काम में जो बिगाड़ होने आरंभ होगये हैं उन तक दृष्टि नहीं पहुंच पाती फलतः छोटा छिद्र बड़ा होकर एक दिन सारा गुड़-गोबर कर देता है।

शेख चिल्ली की कहानी सबको मालूम है। वह चार पैसे की मजूरी करने चला था, सोच रहा था इन पैसों से अंडा लूंगा, अंडे से मुर्गी होगी, उसके बच्चे कच्चे बढ़ेंगे, उनसे बकरी, फिर गाय, फिर भैंस लूंगा उसे बेचकर शादी करूँगा, बच्चे होंगे उन्हें खिलाते हुए 'उहुंक' कहकर दुत्कार दिया करूँगा, दुत्कारने की चेष्टा करते हुए शेख चिल्ली के शिर पर रखी हुई हांडी गिर पड़ी, मजूरी मिलना तो दूर बेचारे पर बुरी तरह मार पड़नेलगी। हम लोग शेखचिल्ली पर हँसतेहैं कि मूर्ख फल के लालच में इतना व्यस्त होगया कि अपने काम की सावधानी भूल गया जिससे बच्चे खिलाने का स्वप्न तो दूर रहा उलटे मार खाना पड़ा, परन्तु हमारा इस तरह का हँसना बेकार है क्योंकि प्रकारान्तर में करीब करीब ऐसा ही हमारा आचरण होता है। फल की आशा में इतने तल्लीन होजाते हैं कि कार्य प्रणाली में अनेक दोष और त्रुटियां उत्पन्न हो जाती है परिणामतः जो इच्छा की जाती हैं उससे उलटा नतीजा सामने आ जाता है।

कर्म योग का पूरा नाम निष्काम कर्म योग है, जिसका अर्थ होता है फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करना। यहां इस

भेद को भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि इच्छा का नहीं आसक्ति का निषेध किया गया है। परिणाम की इच्छा के बिना तो कोई कार्य किया ही नहीं जा सकता, स्वभाविक इच्छा तो अवश्यम्भावी हैं और आवश्यक भी हैं निषेध उस आसक्ति का है जिसके लोभ में कार्य प्रणाली के गुण दोषों की ओर से आंखें बन्द होजाती हैं। दूसरे शब्दों में इस तथ्य को यों कहा जा सकता है कि भविष्य के मनसूबे बांधते रहनेकी अपेक्षा वर्तमान काल का तत्परता पूर्वक उपयोग करो। कर्मयोग का संदेह है कि आज के कार्य में पूरी तरह तन्यय होजाओ, आज जो काम सामने पड़ा हुआ है उसे समस्त बुद्धिसत्ता, दिलचस्पी, सावधानी और मिहनत के साथ करो, उसमें इतने अधिक तत्पर होजाओ कि कल की चिन्ता उसके सामने गौण होजावे उसका ध्यान ही न आने पावे। इस प्रकार जब सम्पूर्ण इच्छा शक्ति के साथ आजका काम किया जायगा तो निस्संदेह उसका फल आशातीत सफलता युक्त होगा।

ऐसी बात नहीं कि निष्काम कर्म करने वाले को फल ही न मिलता हो। वह तो मिलना ही है, मिलकर रहेगा ही, कर्म निष्फल हो नहीं सकता, सच तो यह है कि निष्काम कर्म करने से कई गुना अधिक और अच्छा फल मिलता है। अधिक और उत्तम फल प्राप्त करने का एक वैज्ञानिक तरीका अनासक्ति है। गणित के त्रैराशिक सिद्धान्त की तरह यह स्पष्ट है कि जब कलके मनसूबे छोड़कर आज के कार्य पर जुट जाया जायगा तो सारी शक्तिका एक ही ओर उपयोग होगा और जो कार्य अधिक शक्ति के साथ किया जायगा वह अधिक फलदायक होगा। अनासक्त कर्म निस्संदेह अधिक प्राप्त करने का एक उत्तम तरीका है।

दिलचस्पी को फल की उलझन में से निकाल कर का

प्रणाली में लगा देना, अपनी हर घड़ी को आनंदमय बना लेना है। एक नौकर अपने काम पर जाते ही छुट्टी का समय गिनने लगता है, थोड़ी थोड़ी देर बाद घड़ी देखता है कि कब यहां से छुटकारा मिलेगा उसका मन काम में नहीं लगता, बार बार जी ऊबता है, अधूरे मन से जैसे तैसे काम करता है, क्या आप सोचते हैं कि इस तरीके से वह अपना काम अच्छा और पूरा कर सकेगा ? कदापि नहीं, इस नौकरके कामों का जरा निरीक्षण कीजिये वे बहुत ही अधूरे, भद्दे और खराब होंगे, कारण यहहै कि उसने अपनी आधी शक्ति तो छुट्टी की प्रतीक्षा में गँवादी, शेष आधी से तो आधा अधूरा काम ही हो सकता है। दिलचस्पी एक समय में दो स्थानों पर नहीं रह सकती, यदि छुट्टी में मन अटका है तो सामने का काम बेगार की तरह लगेगा, उसमें चित्त ऊबा रहेगा भार की तरह जो कार्य किया जा रहा है उसमें रस भला किस प्रकार आ सकता है ? ऐसा व्यक्ति छुट्टीके समय में प्रसन्न जरूर होगा किन्तु शेष समय को कुड़कुड़ाते हुए आनंद रहित व्यतीत करेगा।

दूसरा नौकर इसके विपरीत स्वभाव का है, उसे अपना काम खेल की तरह मनोरंजक प्रतीत होता है, पूरी दिलचस्पीके साथ अपनी कला का प्रदर्शन करता है, उस काम में ही पूरा आनंद लेता है और इतना तन्मय हो जाता है कि छुट्टीके समय की ओर ध्यान भी नहीं देता। ठीक समय पर छुट्टी इस नौकर को भी मिलेगी, साथ साथ चौगुना आनंद भी प्राप्त होगा। (१) काम के घण्टे आनंद और मनोरंजन के साथ बीत जायंगे, (२) काम इतना बढ़िया होगा कि देखने वाले प्रशंसा करेंगे और आदर देंगे, (३) अपनी योग्यता, बुद्धि और शक्ति सतेज होगी, (४) मालिक खुश रहेगा, पुरुष्कार और तरक्की देगा। बस, ठीक यही आसक्त कर्म और अनासक्त कर्म का रहस्य है। छुट्टी

की प्रतीक्षा में उलझा रहने वाला नौकर आसक्ति के कार
अपने को उद्विग्न रखता है, काम खराब करताहै, अयोग्य बनत
है, असफल रहता है। निन्दा का पात्र बनता है और हा
उठाता है, किन्तु काम में दिलचस्पी लेने वाला अनासक्त नौक
चौगुना फायदा कर लेता है। यही कर्म कौशल है, इसी क्रि
कुशलता को गीता ने कर्म योग का सुन्दर नाम दिया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि सदा ही इच्छित फ
प्राप्त नहीं होता, किसी अज्ञात कारण से ऐसे अवसर आ सक
हैं कि प्रयत्न करते हुए भी इच्छित फल न मिले वरन् उसव
उलटा परिणाम उत्पन्न हो जाय, ऐसी दशा में जो व्यक्ति मुद्दत
से आशाओं के महल बनाये बैठा है उसका दिल टूट जायगा
निराशा का एक भारी झटका लगेगा और उस शोक में संभ
है अपनी बुद्धि या तन्दुरुस्ती या जिन्दगी गंवा बैठे। अपने प्रि
जन की मृत्यु पर, धन या प्रतिष्ठा नष्ट होने पर, अनेक व्यत्ति
आत्म हत्या करते, पागल होते, बीमार पड़ते देखे गये हैं शो
का इतना गहरा घाव उन्हें लगताहै जो इन वस्तुओं से अतिश
आसक्त होते हैं, जिन्हें उतना ज्यादा मोह नहीं होता उन्हें गह
व्यथा भी नहीं होती, वे बड़े से बड़े झटकों को आसानी से स
लेते हैं, राजा हरिश्चन्द्र का ऐसा ही उदाहरण है, राज्य के चं
जाने. स्त्री के बिक जाने, पुत्र के मर जाने पर भी वह मरघट
अपने कर्तव्य पर ठीक तरह डटे रहे, हजारों वर्ष बीत जाने प
भी उनका आदर्श ज्यों का त्यों जीवित है।

अनासक्त कर्म योग की उपासना करने वाला व्यक्ति
सांसारिक-पंच भौतिक-वस्तुओं की नश्वरता को गम्भीर दृष्टि
देखता है और अनुभव करता है कि यह सारे दृश्य पदार्थ गति
वान् हैं, यह उत्पन्न होते हैं बढ़ते हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानक
चलते हैं और नष्ट होजाते हैं किसी को आज किसी को क

नष्ट होना है, इस नाशवान गतिशीलता को भले प्रकार ध्यान में रखते हुए वह किसी वस्तु को न तो अपनी समझता है और न किसी पर मालिकी गांठता है, जो वस्तुऐं उपयोगके लिए मिली हुई हैं उनको ठीक तरह काम में लाता है अपनी जिम्मेदारी उनके प्रति निंवाहता है फिर भी मोह ममता में नहीं फँसता। यदि कोई प्यारी से प्यारी वस्तु नष्ट हो जाय तो वह अपने को शोकार्त नहीं होने देता वरन् अपने को सँभाल लेता है, मनको समझा लेता है। जो क्रम संसार की समस्त वस्तुओं के ऊपर यही लागू हो रहा है वही यदि अपने निकट वाली वस्तुके ऊपर भी लागू होजाय तो इसमें आश्चर्य, क्षोभ या व्यथा की कौनसी बात है ? अतीत काल से नित्य असंख्य मनुष्य मरते आ रहे हैं फिर यदि अपना कोई प्रियजन आज मरजाता है तो इसमें छटपटाने की क्या बात है ? इसी प्रकार धन, यश, स्वास्थ्य, जैसी अस्थिर वस्तुऐं डांवाडोल हो जाती हैं तो 'हाय, हाय' करने का क्या कारण है ?

कर्मयोगी इन सब तथ्यों को समझता है, इसलिए हानि लाभ की उलट पलट को देखकर वह विचलित नहीं होता, वह दोनों की ही परवा नहीं करता, परवा करने योग्य एक ही बात उसे प्रतीत होती है, वह है अपना कर्तव्य-कर्म। अपनी ड्यूटी ठीक तरह अदा करता हूँ यही एक बात उसके संतोष के लिए पर्याप्त है। अपने आनंद को वह दूसरों के हाथ बेच नहीं देता वरन् अपनी मुट्ठी में रखता है। अमुक फल मिलना अपने हाथ की बात नहीं वरन् दूसरों के हाथ की बात है फिर ऐसा आधार क्यों पकड़ा जाय कि जब दूसरों की कृपा प्राप्त हो तब सुख मिले और जब दूसरा पक्ष चुप हो रहे हैं या विपरीत उत्तर दे तो दुख में बिलखें। यह तो पराधीनता के बंधन में बँधना हुआ, भाग्य के, प्रारब्ध के, ईश्वर के, धनी के, समर्थ के किसीके भी आश्रित

आप क्यों बनें ? अच्छा यही है कि आप स्वाधीन रहें अपनी स्वतंत्रता किसी के हाथ न बेचें, फल न सही, कर्म करना तो अपने हाथ है आप कर्म में ही संतुष्ट रहिए उसी में आनंद ढूँढ निकालिए। फल की प्रतीक्षा में मुद्दतों बैठना पड़ता है पर कर्म तो आप आज ही कर रहे हैं, अभी ही कर रहे हैं फिर क्यों अपने को आज से ही, अभी से ही, आनंदित रखना आरंभ कर दिया जाय ?

सबसे बड़ा आध्यात्मिक लाभ इसमें यह है कि अन्तः चेतना सांसारिक विषयों में लिप्त नहीं होती और जीव भव बन्धन में नहीं पड़ता। फलाशा में मोह और आकर्षण होता है इसलिए उसका ध्यान बहुत काल तक उत्सुकता पूर्वक बना रहता है। यह उत्सुकता एक प्रकार के गहरे संस्कार के रूप में जम जाती है और जीव को मृत्यु के उपरान्त फिर भी अपनी ओर खींच लाती हैं। जड़ भरत की कथा ऐसा ही उदाहरण है उन्हें एक मृग में मोह होजाने के कारण स्वयं मृग बनना पड़ा था। गड़े हुए धन के मोह में जिनका प्राणान्त होता है वे दूसरे जन्म में सर्प बनकर उस धन की चौकीदारी करते हैं। इसी प्रकार जो जिस प्रसंग में अत्यधिक मोहित एवं तल्लीन है उसे अगले जन्मों में उसी क्षेत्र में जन्मने के लिए विवश होना पड़ सकता है, उस आसक्ति का आकर्षण निकृष्ट मार्ग पर घसीट लेजा सकता है, मुक्ति की राह में, ईश्वरकी प्राप्ति में, आत्मोन्नति में वह भारी बाधक हो सकता है इसलिए कर्मयोग की साधना में अलिप्त रहने की व्यवस्था की गई है। कमल की बेल पानी में रहती है पर उसके पत्ते जल की सतह से सदा ऊंचे रहते हैं उसमें डूबते नहीं, कर्म योगी का यही आदर्श होना चाहिए संसार में रहकर अपने सामने, आये हुए कर्मों को पूर्ण मनोयोग के साथ करना चाहिए पर उनमें मोहित नहीं होना चाहिए।

यह तभी संभव है जब फल की आशामें तल्लीन न होकर कर्तव्य में ही सुखी और संतुष्ट रहा जाय।

कर्म में दिलचस्पी रखना एक सात्विक और स्वाभाविक वृत्ति है, इसमें मोह का अंश नहीं है। हल जोतने, घास खोदने, लिखने, तोलने आदि क्रियाऐं दिलचस्पी से करने पर वे मनोरंजन, मन बहलाव या आत्म पुष्टि का कारण होंगी। यदि खेती की आमदनी का लम्बी चौड़ी प्रतीक्षा नहीं है तो हल जोतना खेल की तरह एक रुचिकर मनोरंजन होगा, इसमें बंधन में पड़ने का अवसर न आवेगा। जो व्यक्ति आसक्ति को छोड़ कर कर्म में ही निर्लोभ आनंद लेते हैं वे माया के बंधन में नहीं पड़ते, उनके चित्त पर बन्धनकारी संस्कारों का जमाव नहीं होता, फल स्वरूप आवागमन की फांसी से सहज ही उन्हें छुटकारा मिल जाता है।

जिसको नित्य हल चलाने का काम करना है उसे उसको ठीक तरह सीख लेना चाहिए, वरना संभव है कि हलकी फाल टेड़ी होकर बैल का पैर फाड़दे या अपने को कुछ नुकसान होजाय, जिसको नित्य कर्म करना है उसे कर्मकी कुशलता प्राप्त कर लेनी चाहिए अन्यथा संभव है कि सुख करते दुख खड़ा हो जाय। कर्म योग इसी कुशलता का नाम है, जो इस प्रकार कला पूर्ण ढंग से काम करना जानता है कि किये हुए काम का फल उलटा न निकले वही कर्म योगी है। हम सब को कर्मयोग का अभ्यास करना ही चाहिए, वह हमारे लिए इतना ही जरूरी है जितना देन लेन करने वाले को हिसाब किताब जानना।

❀ भक्ति योग ❀

मनुष्य जैसे जैसे आत्मिक उन्नति करता जाताहै वैसेवैसे ही उसकी आत्मीयता-ममता-का विस्तार होता जाता है। नीच कौम के जीव अपने निजी शारीरिक स्वार्थ तक सीमित रहते हैं, पशु यदि भूखा हो तो अपने बच्चे के आगे का भोजन भी खा जायगा उसे इसका जरा भी खयाल न होगा कि बच्चे को भूखा रहना पड़ेगा। इस पशुवृत्ति में बहुतसे मनुष्य भी ग्रस्ति होते हैं। कितने ही ऐसे घोर स्वार्थी मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं, जो अपने शरीर को ही अपना समझता है और उसकी जितनी परवा करता है उतनी अपने बाल बच्चों की भी नहीं करता, यह उन लोगों की स्थिति है जो मनुष्य शरीर में तो आगये हैं पर पशु वृत्तियों को त्याग नहीं सके हैं आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसे लोगों को अविकसित कहा जाता है। स्वार्थका दायरा जितना संकीर्ण है वह उतना ही नीची कोटि का जीव है।

जब पशुता घटने लगती है और उच्च दैवी गुणों का विकाश होने लगता है तो उसका परिचय आत्मीयताके विस्तार में मिलता है। अपने निजी शारीरिक स्वार्थों से आगे बढ़कर यह बाल बच्चों में,-कुटुम्ब परिवार में, मित्रोंमें, संबंधी रिश्तेदारों में दिलचस्पी बढ़ाता है और उन्हें भी अपनेपनकी सीमाके अन्दर ले आता है। अपने शरीर के स्वार्थों के समान ही इन लोगों की भी फिक्र और देख भाल करता है उनके स्वार्थों को भी अपना ही स्वार्थ समझता है। क्रमशः यह आत्मीयताका विस्तार बढ़ता

है, पहले अपना ही स्वार्थ प्रधान था, फिर वह कुटुम्ब परिवार तक बढ़ा, पीछे यही देश, जाति, विश्व तक अपना दायरा बढ़ाता है और अन्त में नमक की डली जैसे पानी में घुल जाती है वैसे ही स्वार्थ, परमार्थ में घुल जाता है, हर एक में एक ही आत्मा एक ही परमात्मा देखताहै, इसी ऊँची अवस्था को मुक्ति कहते हैं। जब स्वार्थ और परमार्थ का भेद मिल जाता है, मेरा तेरा नहीं रहता, द्वेष भाव समाप्त हो जाता है तब सभी आत्मोन्नति समझी जाती है. उसी अवस्था को प्राप्त करा देने के लिए सारी आध्यात्मिक साधनाओं की रचना हुई है।

यह एक अमिट मानव स्वभावहै कि जो वस्तु उसे अपनी प्रतीत होती है उससे प्रेम करता है अपनेपन का परिचय प्रेम में है। देने लेने से आत्मीयता नहीं झलकती साहूकार से कर्ज ले सकते हैं, रिश्वत, उधार या दान के रूप में किसी को दे भी सकते हैं यह देन लेन साधारण व्यापार है. इसे करने के साथ साथ प्रेम भी हो यह आवश्यक नहीं, ग्राहक और दुकानदार दोनों अपने अपने हिसाब से आपस में लेन देन करते हैं, दुनियां में तरह तरह के, रुपये पैसे के, रूप सौन्दर्य के, सेवा सत्कार के, विद्या बुद्धि के, मेहनत मजूरी के, व्यापार हो रहे हैं इनके लिए यह आवश्यक नहीं कि खरीदार और बेचने वाले आपस में एक दूसरे को अपना निजी आत्मीय समझें, मनुष्य जिसे अपना समझता है भले ही उससे देन लेन न करे पर प्रेम अवश्य करता है, जिस वस्तु के प्रति जितनी गहरी आत्मीयता होती है उतना ही गहरा उससे प्रेम भी होता है। माता बच्चे को अपना समझती है इसलिए यदि वह लाभदायक न हो तो भी उसे भरपूर स्नेह करती है, पतिव्रता पत्नियों को अपने काले कुरूप और दुर्गुणी पति भी इन्द्र से सुन्दर और बृहस्पति से बुद्धिमान लगते हैं, यह इस बात के प्रमाण हैं कि तुच्छ और

निकम्मी वस्तु भी यदि अपनी हो तो उसके प्रति सहज ही प्रे
उमड़ आता है।

पाठक जानते हैं कि आत्मोन्नति के साथ साथ दूसरों
प्रति अधिक गहरी आत्मीयता बढ़ती है, अपना निजी स्व
घटता है और परमार्थ में ही स्वार्थ दिखाई देने लगता है, दू
का हित अपने ही हित के समान जान पड़ता है, क्रमशः
बढ़ते स्वार्थ का बिलकुल अन्त होकर उसका विशुद्ध स्व
परमार्थ ही शेष रह जाता है। यह आत्म विस्तार के साथ
ही प्रेम का भी विस्तार होता है, जब दूसरे लोगों का
अपना स्वार्थ होगया, एक ही आत्मा की ज्योति सब में
पड़ने लगी और अपनापन चारों ओर फैल गया तो यह स्व
भिक ही है कि दूसरों के प्रति उत्कट प्रेम उमड़ पड़े, सब
अपने पुरुष के समान, स्त्रियां माता या बहनों के समान,
पुरुष भाइयों के समान, वृद्ध लोग पिता के समान अपने
पड़े और उनसे सच्चा प्रेम भाव स्थापित होजाय। व्यष्टि
आगे बढ़कर जब समष्टि में चेतना का प्रवेश हुआ तो प्रे
दायरा भी बढ़कर अन्त हो जाता है बूंद जब समुद्र
सम्बन्धित होगई तो उसका अहंभाव भी उतना ही
चौड़ा होगया।

यह एक निश्चित तथ्य है कि आत्मोन्नति औ
विस्तार एक साथ रहते हैं, इनमें से कोई एक भी अ
नहीं रह सकता है, जिसका प्रेम का दायरा विस्तृत है
निस्संदेह आत्मोन्नति हुई है, भले ही वह पूजा पत्री न
हो। जो स्वार्थी, अनुदार, कठोर, रूखा और कंजूस है
दर्जे में पड़ा हुआ है भले ही वह तिलक छाप, कंठी मा
जनेऊ धारण किये हुए हो, चाहे एक घण्टे भजन करता
दिन रात गोमुखी में हाथ डाले रहता हो। आत्मो

प्रेमोन्नति एक ही बात है, इसलिए प्रेमोन्नति और आत्मोन्नति को ही एक ही बात कहा जायगा। ज्ञान और कर्म के द्वारा आत्मा को ऊँचा उठाने का उद्योग किया जाता है, साथ ही एक तरीका यह भी है कि प्रेमोन्नति की साधना द्वारा आत्मा को ऊपर उठाया जाय।

संस्कृत में 'भक्ति' शब्द का जो अभिप्राय है, हिन्दी में पर्याय बाकी शब्द 'प्रेम' है। भक्त और प्रेमी दोनों एक ही हैं इनमें किसी प्रकार का कुछ अन्तर नहीं। आजकल 'भगतजी' शब्द से किसी धूर्त, बड़पेटा-हाऊ हप्प, ढोंगी, नाच कूद करने वाले, ढोल मजीरा पीटने वाले, हरामखोर, मायाचारी व्यक्ति का अर्थ लिया जाता है हमारा तात्पर्य उन पेशेवर लोगों से बिलकुल नहीं है। हम तो 'भक्त' के असली तात्पर्य का उल्लेख कर रहे हैं, जिसके अन्तःकरण में अनन्त प्रेमकी अजस्र धारा बह रही है वही भक्त है, प्रेम से जो गद्‌गद् हो जाता है और अपने प्रेम पात्र के लिए आत्मोत्सर्ग करने को तैयार रहता है, जिसमें यह गुण न हों वह तो भक्ति की आड़ में जीविका या प्रतिष्ठा कमाने वाला माया-चारी व्यापारी मात्र है।

भक्त का प्रेम पात्र में होता है-ईश्वर। वह अपना सम्पूर्ण प्रेम ईश्वर के ऊपर उंडेल देता है, उसी की भक्ति में तन्मय रहता है, यह भक्ति उसके अन्तर स्रोतों को खोल देती है, उसके आनन्द का वारापार नहीं रहता, ईश्वर का स्मरण, चिन्तन, कीर्तन, अर्चन, वन्दन करने में गद्‌गद् हो जाता है, प्रभु को अपने में और अपने को प्रभु में एकीभूत हुआ देखता है और इस प्रेम के प्याले को पीकर मस्त होजाना है यह मस्ती अपने ढंग की निराली है, जिसे एक बार इसका चस्का पड़ा कि फिर दूसरी कोई वस्तु सुहाती ही नहीं, यह मधुरता इतनी अद्वितीय है कि प्याला होठों के आगे से हटाया ही नहीं जाता, जिस कोई

ने एक बार इस पारस को छुआ वह पुराना चोला बदल कर दूसरे ही रंग ढंग का होगया।

ईश्वर भक्ति को एक उचंग, सनक, उन्माद, मानसिक बीमारी उत्तेजना, या आवेश कहा जाता है, कहते हैं कि जिस प्रकार किसी क्रोधी या उन्मादी को कोई बे सिर पैर की सनक उठ खड़ी होती है और वह उसी तरंग में अन्ट शन्ट बकता है और बुद्धि रहित आचरण करता है उसी प्रकार यह भक्त लोग भी ईश्वर को बिना जाने, बूझे किन्हीं के बहकावे में आकर ऊल जलूल आचरण करते हैं। उपरोक्त आक्षेपों को हम उचित नहीं समझते क्योंकि ईश्वर भक्ति में अवैज्ञानिकता नहीं है।

प्रेम की मर्यादा बढ़ाने से आत्मीयता की सीमा बढ़ती है और इसी के साथ साथ आत्मोन्नति भी होती है। इस मर्यादा को अधिकतम विस्तृत करने की आवश्यकता है। ईश्वर से अधिक विस्तृत और यथावत् उत्तर देने वाली शक्ति और दूसरी कोई नहीं है, जड़ वस्तुओं से जो प्रेम किया जाता है वह नश्वर और अस्थिर होता है क्योंकि उस वस्तु के गुण, स्वभाव या अस्तित्व में अन्तर आते ही प्रेम में भी घट बढ़ होजाती है और कभी कभी तो असाधारण परिवर्तन के कारण वहां प्रेम के स्थान पर द्वेष तक उपस्थित हो जाता है. बिछोह होने पर बड़े दुख और शोक का सामना करना पड़ता है, इसलिये प्रेम का पात्र ऐसा चुनना चाहिए जो सदा एक रसरहे और परिवर्तन शील न हो, ऐसा एकमात्र परमात्मा ही है।

बेशक ईश्वर को हमारे द्वारा खुशामद कराने की कोई आवश्यकता नहीं है, न वह प्रशंसा, स्तुति, गुणगान सुनकर प्रसन्न होता है। उसके लिये भक्त और अभक्त समान हैं। न वो भक्तों को कुछ पुरुस्कार देता है और न अभक्तों को किसी दंड में

डालता है, उसने किसी जीव का यह कर्तव्य नहीं ठहराया है

कि नित्य ही पूजा उपासना किया करे। यह सब तो अपने लाभ की, अपने हित की बातें हैं जिन्हें ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नहीं वरन् अपनी आत्मिक चेतना को ऊँची उठाने की दृष्टि से करना चाहिए। रबड़ की गेंद को जब हम जोर से खींच कर दीवार में मारते हैं तो वह उतने ही जोर से टक्कर खाकर वापिस लौट आती है, ईश्वर के लिए जितना प्रेम फेंका जाता है वह अखिल विश्व व्यापी प्रेम तत्व में टक्कर खाकर वापिस लौटकर ब्याज समेत अपने ही पास वापिस आजाता है। भक्त को अक्सर ऐसे अनुभव होते हैं मानों ईश्वर उसकी प्रार्थना सुन रहा है, प्रेम का उत्तर दे रहा है और वैसा ही व्यवहार कर रहा है जैसा कि सच्चा मित्र अपने मित्रके उपकार का बदला किसी न किसी रूप में चुकाताहै। यह प्रत्युपकार कहां से मिलते हैं? कौन देता है? उसका उत्तर पूर्व पंक्तियों में दिया जा चुका है, अपने अन्तःकरण से निकला हुआ प्रेम जब वापिस लौटता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई दूसरा हमसे प्रेम कर रहा है।

दर्पण के कांच पर अपनी छाया पड़ती है, वह छाया चमकदार पारे की पौलिस से टक्कर खाकर वापिस लौटती है तो दर्पण में अपना ही प्रतिबिंब इस प्रकार दिखाई पड़ता है, मानों हूबहू अपने ही जैसा कोई दूसरा आदमी सामने खड़ा हुआ है। किसी पक्के बन्द मकान में या पक्के कुए में यदि कुछ शब्द किया जाय तो वह दीवारों में टक्कर खाकर वापिस लौटता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों वैसे ही शब्द कोई दूसरा व्यक्ति उच्चारण कर रहा है। हम दर्पण के प्रतिबिंब और पक्के मकान की शब्द प्रतिध्वनि को अपने से प्रथक देखते हैं तो भी वह असल में अपनी ही शक्ति का ही छाया चित्र है। ईश्वर की ओर से प्रेम के बदले में प्रेम या अन्य प्रत्युपकार

प्राप्त होते हैं वे एक वैज्ञानिक नियम के अनुसार अपने ही प्रयत्न के फल हैं। भौतिक वस्तुओं के प्रति फेंकागया प्रेम उन्हीं में घुल जाता है यदि वे वस्तुएं बदला दे सकें तो ठीक अन्यथा वह प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है किन्तु ईश्वरीय प्रेम में ऐसा विकल्प नहीं है उसका परिणाम निश्चित है, बदला मिलने की उसमें तो गारंटी है, अपने धन को लोग ऐसी जगह में लगाना चाहते हैं जहां से वह सुरक्षित रूप से लौट आवे, फिर प्रेम जैसे हृदय रस को पंचभूतों से बने हुए साख रहित कर्जदारों के पास धरोहर रखने की अपेक्षा यदि उसे ईश्वर रूपी प्रतिष्ठित बैंक में जमा किया जाय तो यह उचित ही है इसमें बुद्धिमानी ही है।

आचार्यों ने भक्ति को दो भागों में विभाजित कियाहै एक गौणी भक्ति, दूसरी परा भक्ति। आरंभिक अभ्यासी को गौणी भक्ति का आसरा लेना पड़ता है पर जब थोड़ा बहुत आत्म विकाश हो जाता है तो फिर उसकी आवश्यकता नहीं रहती, तब पराभक्ति का अवलम्बन ग्रहण करना होता है। ईश्वर का महान्, व्यापक, विभु, सर्व शक्तिमान स्वरूप को आरंभिक अभ्यासी अपनी निर्बल चेतना द्वारा चिन्तन करने में समर्थ नहीं होते इसलिए उन्हें ईश्वर की एक प्रतिमा का सहारा लेना पड़ता है, यह प्रतिमा मनुष्यों के लिए मनुष्याकार ही हो सकती है। सर्प यदि ईश्वर का कोई स्वरूप निर्धारित करता तो उसका ईश्वर एक बलवान मोटा ताजा सर्प होता, इसी प्रकार यदि अन्य जीव जन्तु, पशु पक्षी, कीड़े मकोड़े ईश्वर के रूप की कल्पना कर सके तो वे अपनी अपनी जाति में ही उसकी प्रतिमा निर्धारित करेंगे। मनुष्यों में भी ऐसा ही है, विभिन्न देश वासियों ने ईश्वर के जो रूप कल्पित किये हैं, जिन वस्त्र भूषणों से उसे सजाया है, उसका स्वभाव जैसा माना है वह उनकी

अपनी स्थिति के अनुकूल ही हैं। अंग्रेजों को गॉड पूरी साहबी पोशाक में गोरा चट्टा होगा, मुसलमानोंके अल्लाहमियां चूड़ीदार पजामे पहने, टर्की टोपी लगाये दाढ़ी हिलाते हैं, हिन्दुओं के ईश्वर भारतीय वेष भूषा और विचार धारा को पसंद करते हैं, यह विभिन्न रूप ईश्वर की एकाङ्गी कल्पनाऐं हैं तो भी इनका उपयोग है ही।

मूर्ति, आरती, नमाज, भजन, पूजा, जप, कीर्तन आदि साधनों द्वारा अपना प्रेम ईश्वर के निमित्त प्रेरित किया जाता है यह गौणी भक्ति है और आरंभिक साधकों के लिए बहुत हद तक इसकी आवश्यकता भी है परन्तु जब आत्मोन्नति में जब प्रगति हो चुके तो सदा इन्हीं में उलझे रहने की जरूरत नहीं है, एक कक्षा पार कर लेने पर दूसरा पाठ ग्रहण करना ही उचित है। पहली सीढ़ी पर चढ़ जाने के पश्चात् दूसरी के ऊपर चढ़ने की तैयारी करनी ही चाहिए। 'गौणी' भक्ति के पश्चात् 'पराभक्ति' का दर्जा आता है।

जो लोग आध्यात्मिक बचपन को पार कर चुकें, जिन्हें खिलौनों से खेलने की दिलचस्पी उतनी न रहे, जिनकी जिज्ञासा और विवेक बुद्धि जागृत होने लगे उन्हें पराभक्ति की ओर कदम उठाना चाहिए, गौणी भक्ति में प्रेमी बननेका जो छुटपुट अभ्यास किया था उसे ठीक प्रकार उपयोग करने के लिए तैयार होना चाहिए। ईश्वर के बनाये हुए इस विश्व के जड़ चैतन्य पदार्थ सभी हैं, पर चैतन्य में ईश्वरीय अंश अधिक है। साधारण मनुष्यों की कोई परवा नहीं करता पर अवतारी महापुरुष जिनमें ईश्वर की अधिक कलाएँ होती हैं संसार में बड़े सम्मान के साथ पूजे जाते हैं, यह पूजा ठीक भी है क्योंकि अधिक प्राप्त करने के लिए अधिक [illegible] का सहारा लेना पड़ता है, गर्मी की आवश्यकता तारागणों से पूरी नहीं होती इसके लिए सूर्य की

सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति की अधिक कलाएँ जड़ पदार्थों की अपेक्षा चैतन्यों में देखते हुए हमारे प्रेम और पूजा के वे ही अधिकारी हो सकते हैं। गौणी भक्ति में मनुष्य जड़ पदार्थों की मूर्ति, वृक्ष, नदी, पर्वत, मकान, पुस्तक, आदि के ऊपर निर्भर रहता है इन्हीं की पूजा अर्चा विविध कर्मकाण्डों द्वारा किया करता है पर पराभक्ति में चैतन्य प्राणियों के अन्दर जगमगाती हुई अखंड ज्योति में अपने प्रेम को नियोजित करता है।

धातु या पाषाण की प्रतिमाओं की कक्षा पार कर लेने के बाद उससे अधिक बड़ी और अधिक चैतन्य प्रतिमा का आश्रय लेकर अपना प्रेम ईश्वर तक पहुंचाना होता है। यह विश्व ब्रह्माण्ड एक प्रकार की प्रतिमा ही है, भगवान ने अपने विराट् स्वरूप का दर्शन अर्जुन को कराया है उसका उल्लेख गीता के ११ वें अध्याय में मिलता है, यह समस्त विश्व भगवान का ही विराट रूप है, पराभक्ति की कक्षा वाले इसी प्रतिमा को अपना अवलम्बन बनाते हैं, राजपूतों में एक समय ऐसा रिवाज था कि यदि विवाह के समय किसी कारणवश वर उपस्थित न हो सके तो उसके फेंटा और कटार के साथ कन्या का विवाह हो जाता था, गौणी भक्ति फेंटा कटार का विवाह है यदि ईश्वर को समझ योग्य विवेक न हो, उसे ठीक तरह अनुभव न किया जा सके तो निर्जीव प्रतिमाओं की सहायता से भी काम चला लिया जा सकता। जिनकी आंखें दुखने आजाती हैं या कमजोर होती हैं उन्हें सूर्य की तेज धूप देखना सह्य नहीं होता ऐसी दशा में उनकी आंखों पर रंगीन कांच का चश्मा पहना देते हैं ताकि नेत्रों की सामर्थ के अनुसार ही प्रकाश मिले परन्तु जब आंखें अच्छी हो जाती हैं तो उस चश्मे की जरूरत नहीं रहती। प्राणियों की चैतन्यता साक्षात् परमात्मा की ही दिव्य ज्योति है

पर कई व्यक्तियों की चेतना उसे असली रूपमें देख नहीं सकती, वह मोह में फँस कर किसीको मित्र, किसी को शत्रु, किसी को अपना, किसी को विराना, किसी को नीच, किसी को ऊँच, देखती है यह भेद भाव ही वह कमजोरी है जिसके कारण सामने खड़े हुए ईश्वर को प्रचण्ड तेज देखा नहीं जाता और कल्पित प्रतिमाओं से किसी प्रकार काम निकाला जाता है।

गीता के ११ वें अध्याय के आठवें श्लोक में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि—"तू अपने इन चर्म चक्षुओं से मेरे वास्तविक रूप को न देख सकेगा इसलिए मैं तेरी दिव्य दृष्टिको खोलता हूँ, उससे तू मेरे योग और ऐश्वर्य को देख।" दिव्य दृष्टि द्वारा, ज्ञान दृष्टि द्वारा ही ईश्वर की झाँकी की जा सकती है, चर्म चक्षुओं की उस तक पहुंच नहीं हो सकती। आंखों से पंच भौतिक वस्तुऐं दिखाई पड़ती हैं क्योंकि नेत्र स्वयं पंच भौतिक हैं, ईश्वर सूक्ष्म है सत् चित् आनंद स्वरूप है इसलिए उसका दर्शन आत्मा को ज्ञान की दिव्य दृष्टि से ही हो सकता है। गौणी भक्ति चर्म चक्षुओं का विषय है, चुहिया के बच्चों की आंखें जन्म समय बन्द रहती हैं उन दिनों वे अपनी माता को पंजों से टटोल टटोल कर ढूंढते हैं पर जब आंखें खुल जातीहैं तो झट दौड़ कर अपनी माता के पास पहुंच जाते हैं, ज्ञान की दिव्य दृष्टि न खुलने तक गौणी भक्ति आवश्यक है उसके बिना काम नहीं चल सकता, अनेक व्यक्ति लोक व्यवहार में बहुत ही चतुर और क्रिया कुशल होते हुए भी आत्मिक दृष्टि से बिलकुल बालक हो सकते हैं उनके लिए गौणी भक्ति की ही आवश्यकता है, उन्हें प्रतिमाओं का दर्श, स्पर्श, पूजन, अर्चन करके अपने अलौकिक प्रेम का विस्तार करना चाहिए पर जिनका आत्मिक बचपन समाप्त होजाय जिनके नेत्र इतने कमजोर न रहें उन्हें

पराभक्ति की ओर प्रगति करनी चाहिए, ईश्वर को अधिक तेजस्वी और अधिक स्पष्ट स्वरूप का दर्शन करना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि हाथ से गढ़े हुए या दिमाग के बने हुए ईश्वर में दिलचस्पी नहीं यह तो हमारे हाथ के खिलौने हैं वास्तविक ईश्वर नहीं, वे कहा करते हैं कि धातु पत्थर की मूर्तियां और तस्वीरें शिल्पकारों द्वारा बनाई हुई हैं, यह नष्ट होने वाली हैं, जड़ हैं, और भावना रहित हैं किन्तु ईश्वर सत् है-सदा रहने वाला है. चित है-चैतन्य है, आनन्द है-आनन्द से परिपूर्ण है. पर इन तीनों में से एक भी गुण जिनमें नहीं है उस प्रतिमा को ईश्वर क्योंकर मानें ? और क्योंकर उसे उच्च श्रद्धा के साथ प्रेम करें ?" यह लोग अदृश्य लोक के निवासी ईश्वर के बारे में भी ऐसे संदेह उठाते हैं कि ध्यान किये जाने वाले चित्र हमारी कल्पना की उपज है, अमुक लोक में अमुक आकार प्रकार का ईश्वर रहता है, इन अप्रत्यक्ष बातों का कोई प्रमाण नहीं, संभव है यह सब कपोल कल्पनाऐं ही हों। प्रमाण रहित बात की प्रतीत नहीं होती और प्रतीति के बिना प्रीति कैसे हो सकती है ? वे कहते हैं कि हम अन्धविश्वास पूर्वक यों ही अन्धा-धुन्ध भक्ति करने में असमर्थ हैं, जो बात विवेक सम्मत हो उसे ही स्वीकार कर सकते हैं।

उपरोक्त प्रकार के प्रश्न हमारे सामने प्रकारान्तर में प्रायः नित्य ही आते रहते हैं, इन्हीं आशयों की दर्जनों शंकाऐं नित्य अखंड ज्योति कार्यालय में आया करती हैं, यह बौद्धिक युग है इसमें हर बात तर्क की कसौटी पर कसी जाती है और प्रत्यक्ष वाद में विश्वास किया जाता है फिर ईश्वर और ईश्वर भक्ति के संबंध में भी तार्किक आधारों की अपेक्षा की जाती है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे महानुभावों को परा-भक्ति के विज्ञान का मनन करना चाहिए, जितना ही अधिक

इस संबंध में विचार किया जायगा उतनाही अधिक संतोष होता जायगा। जो चैतन्य प्राणी हमें दिखाई दे रहे हैं इन सब में ईश्वर का अंश मौजूद है. अपने पिता के समान पुत्र में भी गुण हैं, परमात्मा के समान आत्मा भी सच्चिदानंद स्वरूप है, यह न तो शिल्पकार का बनाया हुआ है, न कपोल कल्पना है और न जड़ ही है। ईश्वर की जीती जागती, चलती फिरती प्रतिमाएं हमारे सामने प्रत्यक्ष रूप से घूम रही हैं. इनके आस्तित्व को तर्क और प्रमाणों के साथ जिसका जी आवे परख सकताहै और अपना दिलजमई कर सकता है।

इन प्राणियों के प्रति, भक्त अपनी भक्ति का विस्तार करके नर नारायण की पूजा कर सकता है। यह पराभक्ति प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है, आत्म संतोष देने वाली है,और प्रत्युत्तर देतीहै,आस्तिक और नास्तिक दोनों ही इस लक्ष पर अपने अपने दृष्टिकोण से एकत्रित हो सकते हैं, आस्तिक भूत मात्र में ईश्वर को देखता हुआ उसकी पूजा की भावना से लोक सेवा को अपना लक्ष बनाता है, नास्तिक समाज की सुव्यवस्था और उन्नति के लिए लोक सेवा को प्रधान कर्तव्य नियत करता है. दोनों ही इस तथ्य से सहमत हैं कि मनुष्य की उच्च आध्यात्मिक भावनाओं का उपयोग लोक सेवा में होना चाहिए. प्राणियों को ऊँचा उठाने और सुखी बनाने की प्रक्रिया के लिये अन्तःकरण की सद्भावनाओं को नियोजित किया जाना चाहिए।

प्रेम को जिसके ऊपर आरोपित किया जाता है उसके प्रति आत्मीयता उमड़ आती है, जो अपना प्रतीत होता है उसके लिए कुछ त्याग करने की, देने की, सेवा की, उमंगें उठा करती हैं। जवानी जमा खर्च से, या मन ही मन भक्ति के हवाई किले बनाने से उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती, वे भक्त अधूरे हैं जो मन की कल्पनाओं से बहुलित किया कर ईश्वर का पेट

भरना चाहते हैं, या रोली चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप दीप में पैसा दो पैसा खर्च करके मनोवांछा पूरी करना चाहते हैं, प्रेम का मार्ग कठिन है, इस पर शूरवीर ही चल सकते हैं, प्रेमी बनने के लिए हाथ भर का कलेजा होना चाहिए। अपने लिए कुछ न चाहना और दूसरों के लिए सब कुछ दे डालना यह कार्य जिसे सरल प्रतीत होता है, जो इधर दिलचस्पी रखते हैं वे ही भक्ति का कुछ मर्म समझ सकते हैं अन्य लोग जिनका जीवन स्वार्थ बन्धनों में जकड़ा हुआ है, जिन्हें आपापूती से फुरसत नहीं वे भक्ति बेचारी को बेकार अपने कांटों में घसीटते हैं।

विश्व प्रेम का क्रियात्मक रूप अपने पास के औरसमान स्थिति के लोगों की सेवा करना है, अपने से बहुत दूर रहने वाले और अपने स्वभाव विचार तथा पहुंच से दूर वालों की सेवा उतनी सरल नहीं है जितनी कि निकटवर्ती और समान वृत्ति के लोगों की सरल है, इसलिए देश, जाति की सेवा विश्व सेवा ही कही जायगी, यह विश्व सेवा परमेश्वर की सर्वोत्तम भक्ति है,इससे बढ़कर अन्य कोई प्रकार हो नहीं सकता। अपनी शारीरिक, मानसिक और भौतिक शक्तियों को पूजा की सामिग्री बनाकर उसे अपने प्राण प्रिय देवता के चरणों पर चढ़ना चाहिए और त्याग तथा बलिदान का ऊंचा आदर्श उपस्थित करके अपने सच्चे प्रेम का परिचय देना चाहिए। यह भक्ति कठिन है क्योंकि इसमें कड़ी कसौटी रखी गई है, जो अपनी शक्ति का जितना भाग परमार्थ में लगावे वह इतना ही बड़ा भक्त कहा जायगा। यहां परिणामकी प्रमुखता नहीं वरन् अंश की अधिकता का महत्व है। जैसे एक करोड़ रुपये वाला व्यक्ति यदि एक लाख रुपया लोक सेवा में लगाता है तो उसने अपनी शक्ति का सौ वां भाग खर्च किया, किन्तु जिसके पास सो रुपये हैं उसने पचास लगा दिये तो उसका आधा भाग खर्च हुआ। लौकिक

लौकिक दृष्टि से पचास रुपये की अपेक्षा एक लाख देने वाला बड़ा दानी है पर आध्यात्मिक दृष्टि से निष्ठा और श्रद्धा की तोल की जाती है वहां सौ वां भाग देने की अपेक्षा आधा भाग देने वाला ऊंचे दर्जे का है उसकी श्रद्धा अधिक प्रशस्त है। अपनी शक्ति की न्यूनतम भाग स्वार्थ में खर्च करना और अधिकतम भाग परमार्थ में व्यय करना यह सच्ची भक्ति की परीक्षा है इससे नाप कर यह जान लिया जा सकता है कि किस भक्त में सच्ची भक्ति का कितना अंश है।

ईश्वर भक्त अपनी भक्ति भावना को विश्व व्यापी प्रभु के चरणों में अर्पण करता है, अपने प्रेम पुष्पों को अंजलि में भर कर पूजा की वेदी पर बखेर देता है, वह हर घड़ी यही सोचता है कि मैं अपने प्रेम पात्र की चलती फिरती प्रतिमाओं की क्या क्या और किस प्रकार सेवा करूँ? जो छोटी बड़ी शारीरिक, मानसिक और भौतिक शक्तियां उसके पास होती हैं उन्हीं को अंजलि में लेकर वह नर नारायण के सामने उपस्थित होता है। मंदिर की अव्यवस्था को सुधारता है, गंदगी को साफ करता है, पूजा के पात्रों को मांज मांज कर स्वच्छ बनाता है, गर्द गुबार को हटाता है, दूसरे शब्दों में यों कहिए कि अपने चारों ओर फैले हुए पाप, दुर्गुण, दुराचार, कुविचार, अन्याय, शोषण, गुण्डापन, अज्ञान आदि आसुरी तत्वों से निरंतर संघर्ष करता है, इन्हें दूर करने में मार भगाने में जी जान से जुटता है, यद्यपि बदले में उसे नित्य ही अपशब्द, बुराई, बदनामी, पीड़ा, हानि, अपमान आदि सहन करने पड़ते हैं तो भी वह अविचल भाव से धैर्य पूर्वक हँसते हँसते इन सबको सहन करता है और अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ता पूर्वक आगे बढ़ता चलता है। मन्दिर में दूसरा काम उसे भगवान को प्रसन्न करने वाली सामिग्री जुटाना होता है, आरती, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, चन्दन, रोली, अक्षत,

फल, मधुपर्क आदि पूजाके उपादान सामने उपस्थित करने पड़ते हैं, दूसरे शब्दों में सेवा, उपकार, दया. सहानुभूति, उदारता, त्याग, नम्रता, ईमानदारी, पवित्रता आदि सद्वृत्तियों द्वारा नर नारायण को संतुष्ट और प्रसन्न करता है। पापों से लड़ना और पुण्य को बढ़ाना यह दोनों कार्य उसे समान रूप से प्रिय होते हैं पूजा के यह दोनों अङ्ग हैं, रथ दो पहियों से चलता है, एक पहिया न हो वह आगे न चल सकेगा, ईश्वर के मन्दिर में गंदगी हटाकर स्वच्छता लाने की भी जरूरत है और पूजन सामिग्री की भी भक्त इन दोनों ही कार्यों को समान रूप से कंधे पर उठता है।

भक्ति में तन्मयता होती है, आवेश होता है, लगन होती है, प्रेम का उन्माद होता है. रस होता है, विह्वलता होती है और अपने प्रेमी में घुलजाने की उत्कंठा होती है, अपना आपा भूल जाता है और प्रेमी ही स्मरण रहता है, यह चिन्ह गौणी भक्ति में भी पाये जाते हैं कई भक्त कीर्तन करते हुए, हरि चर्चा करते हुए, कथा कहते या सुनते हुए, जप स्मरण करते हुए, पूजा स्तुति करते हुए प्रेम में गद् गद् होजाते हैं, उनकी आंखों से अश्रुपात होने लगता है और तन्मयता में देह की सुधि बुधि भूल जाते हैं पराभक्ति में प्रेम के साथ विवेक, दूर दर्शिता, गम्भीरता और मननशीलता भी रहती है इसलिए उसमें उपरोक्त लक्षणों का रूप कुछ बदल जाता है। पराभक्ति का उपासक परमार्थ में तन्मय होजाता है, दूसरों को दुख देखकर आँसू भर लाता है, अपने स्वार्थको सुधि बुधि भूल जाता है. अन्य प्राणियों को हित साधना करते हुए वह गद्‌गद् हो जाता है, और पुण्य का उत्कर्ष होता देखकर पुलकित होजाता है, धर्म के लिए कष्ट सहते हुए उसे तीर्थ यात्रा जैसा. तपस्या जैसा आनंद आता है। गौणी भक्ति में भक्त को जो आवेश आता है वह ज्वर की तरह

उतर जाता है या ढाक के फूल की तरह निष्फल झड़ जाता है, किन्तु पराभक्ति का आवेश नपुंसक नहीं होता उससे कार्य की उत्पत्ति होती है, उत्तम, लोक कल्याणकारी, संसार का सुख बढ़ाने वाले, पुण्यमय कर्मों की सृष्टि होती हैं, धर्म को प्रोत्साहन मिलता है, जीवित जगत को प्रेम दान देने वाला उसकी सुख शान्ति के लिए कर्म भी करता है और वे कर्म इतने उच्चकोटि के होते हैं कि चिरकाल तक उनके आदर्श का प्रकाश जनता का पथ प्रदर्शन करता रहता है।

प्रेम मानव प्रकृति का एक अमूल्य तत्व है, यदि इसे जीवन का सार कहें तो अनुचित न होगा, पशुता से जितना जितना ऊँचा उठकर दैवतत्व के निकट मनुष्य बढ़ता जाता है उतना ही वह प्रेम का उपासक बनता जाता है। आध्यात्म पथ के पथिकों का प्रेमी होना-भक्त होना-स्वाभाविक ही है, उन्हें अपनी भक्ति को दिन दिन अति उज्ज्वल, निर्मल, निस्वार्थ और पवित्र बनाते जाना चाहिए। जो आत्म ज्ञान में निपट बालक हैं उनके लिए गौणी भक्ति आवश्यक है पर जो कुछ कदम आगे बढ़ा चुके हैं उन्हें पराभक्ति का अवलम्बन करना चाहिए "भगवान भक्त के वश में होते आये" की उक्ति ठीक है। प्रेम और परमात्मा एक ही वस्तु के दो नाम हैं जिनके अन्तःकरणों में प्रेम का अमृत कलश छलकता है समझिए कि यहां स्वयं साक्षात् प्रभु विराजमान हैं। भक्ति ईश्वर को प्राप्त करने का द्वार है इसमें प्रवेश करने के लिये पाठकों को श्रद्धा पूर्वक कदम बढ़ाना चाहिए। ईश्वरकी प्रतिज्ञा है कि जो सच्चे हृदय से मेरी भक्ति करता है उसके योगक्षेम की जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ और शीघ्रही इस मृत्यु संसार सागर से पार कर देताहूँ। भक्तिका ऐसाही महात्म्यहै पर वह भक्ति सच्ची भक्ति होनी चाहिए।

❀ विहंगावलोकन ❀

ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्तियोग की संक्षिप्त रूप रेखा पाठक पिछले पृष्ठों में पढ़ चुके हैं। अब उसका क्रियात्मक और व्यवहारिक रूप जानना है। प्राथमिक सीढ़ी ज्ञान योग है, ईश्वर जीव और प्रकृति यह तीन ही जानने योग्य वस्तुऐं इस संसार में हैं, इनको जानने के लिए पूरा पूरा प्रयत्न करना ही ज्ञान योग है। सर्व व्यापक, सर्वशक्तिमान, कर्ता भर्ता, हर्ता प्रभु कौन है, कहां है, कैसा है, क्या उसका उद्देश्य है और किस प्रकार उसकी कार्य प्रणाली चलती है, इन प्रश्नों का पूरी गंभीरता और सावधानी के साथ विवेचन करना चाहिए, केवल जन-श्रुतिके आधार पर नहीं वरन् तात्विक मीमांसा के आधार पर विवेक पूर्वक उसका समाधान करना चाहिए। जिस सरकार के राज्यमें रहते हैं उसका ढांचा और कानून जानने की हर आदमीको जरूरतहै, जो शक्ति हमें उत्पन्न करती है, अपने शासन में रखती है और अन्त में नष्ट कर देती है उसके संबंध में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, जिससे प्रतिकूल आचरण के कारण उत्पन्न होने वाले दुखों से बचकर अनुकूल आचरण का सुख भोग सकें।

हमारा अपना अस्तित्व क्या है, आत्मा का स्वरूप क्या है, उसकी प्रगति किधर हो रही है, मृत्यु के उपरान्त क्या होता है, स्वर्ग नरक की व्यवस्था किस प्रकार है, जीवन किस लिए धारण किया जाता है, मुक्ति क्या है, सुख का स्रोत कहां है, आदि प्रश्न आत्मा की जानकारी के संबंध में उठते रहते हैं, इनको समझना और विवेचन करना यह आत्म ज्ञान है। इसी

प्रकार प्रकृति की व्यवस्था करनी चाहिए, आरोग्य, शास्त्र, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, इतिहास, भूगोल, खगोल, पदार्थ विज्ञान, मनोविज्ञान यह सब प्रकृति के-संसार के-रहस्यों की जानकारी के विज्ञान हैं इनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और वर्तमानकाल की जो सांसारिक व्यवस्था हो और उसमें जो प्रगति हो रही हो उसकी जानकारी खासतौर से रखनी चाहिए। समाचार पत्रों का नित्य पढ़ना संसार की वर्तमान स्थिति से परिचित होने का इस युग में एक अच्छा साधन है। "ईश्वर कौन है, कहां है, कैसा है ?" और "गहना कर्मणो गतिः" तथा "जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश" पुस्तकों में हम ईश्वर, जीव और प्रकृति संबंधी तत्व ज्ञान की बहुत कुछ चर्चा कर चुके हैं, अन्य सद् ग्रन्थों से, अनुभवी सत्पुरुषों के सत्संग से, मनन निनदिध्यासन से इन तथ्यों के संबंध में और अधिक ज्ञान संग्रह करना चाहिए। सरसरी निगाह से पुस्तकें पढ़ जाने या कान से सुन लेने मात्र से काम न चलेगा वरन् इन जानकारियों को अन्तः चेतना में बहुत गहरा उतरना होगा, ज्ञान विश्वास और आचरण को एक पंक्ति में खड़ा करना होगा तब ही ज्ञानयोग की सफलता कही जायगी। जो बात विवेक की कसौटी पर कसने के बाद खरी जंचे उसे सच्चे हृदय से दृढ़ता पूर्वक अपना लिया जाय, इसी सत्य साधना पर मनुष्य को प्रेरित करना ज्ञानयोग का उद्देश्य है।

ज्ञान की आधार शिला पर कर्म की प्रवृत्ति होनी चाहिए, आप जो भी काम करें उसके संबंध पहले पर्याप्त सोच विचार, खोज बीन, तर्क वितर्क, ढूंढ तलाश करनी चाहिए, पहले ज्ञान पीछे कर्म के क्रम का जहां ध्यान रखा जाताहै वहां भूल होनेकी संभावना बहुत कम रहती है, किसी कार्य का बचपन ज्ञान है और तरुणाई कर्म है। ज्ञान परिपक्व होकर कर्म की प्रेरणा करता

है। यों तो लोग रोज ही कुछ न कुछ सीखते हैं और कुछ न कुछ कर्म करते हैं पर यह अन्धा-धुन्ध है, इसका फल उलटा और सीधा दोनों प्रकार का मिलता है, इस अनमेल ताने बाने में जीव उलझ जाता है और बन्धन में पड़कर भव बाधाएँ सहता रहता है। यदि उद्देश्य पूर्वक विचार और विवेक पूर्वक, कर्तव्य भावना से कर्म किया जांय तो यही मामूली काम काज, जिन्हें हर आदमी आमतौर से करता है यज्ञ रूप हो सकते हैं और घर गृहस्थी में ही तपोभूमि की साधना की जा सकती है। स्वार्थ के लिए नहीं, कर्तव्य के लिए कर्म करो. ड्यूटी समझकर पवित्र भावना से अपने काम काज में जुटे रहो, छोटा काम हो तो भी उसे पूरी दिलचस्पी, ईमानदारी, मेहनत, और खुबसूरती के साथ करो. अपने कार्य में पूर्ण रूप से व्यस्त होजाओ जिससे चित्त में अनावश्यक विक्षेप उत्पन्न न होने पावे, काम को खेल समझ कर मनोरंजन की तरह करते रहो उसका भार मन पर मत पड़ने दो, यदि परिश्रम के अनुसार फल न मिले तो भी उदास या दुखी मत बनो, फल के लिए तरह तरह की आशाओं के महल मत बांधो वरन् अपने कर्तव्य पालनके आनंद में हर घड़ी मस्त रहो।' यही कर्मयोग का संदेश है। इस संदेश को ठीक तरह हृदयंगम कर लेने से जीवन अत्यंत ही उत्साह, हर्ष और आनंद से भर जाता है, प्रसन्नतामें असाधारण वृद्धि होजाती है, क्रोध झुंझलाहट, चिन्ता, व्यथा, वेदना, शोक निराशा की दुखदायी अग्नियों से अनायास ही छुटकारा मिल जाता है।

भक्ति योग अन्तिम अवस्था है, ज्ञान और कर्मसे परिपक्व मनोभूमि में से प्रेम की मखमली हरियाली उपज पड़ती है, वह इतनी स्वच्छ और विस्तृत होती है कि स्वार्थों के तुच्छ दायरे में बंधित रहकर विश्वव्यापी चैतन्य तत्व के साथ, विश्वात्मा के साथ,परम आत्मा के साथ घुल मिल जाती है। यह विकसित

प्रेम ईश्वर का ही रूप है, अखिल विश्व में सूक्ष्म रूप से जो दिव्य तत्व व्याप्त होरहे हैं मनुष्य जाति ईश्वर के रूप में उन्हीं की उपासना करती है, इन दिव्य तत्वों में प्रेम सर्वोपरि है, यह बात निस्संकोच रूप से कही जा सकती है कि जिसके अन्दर में जितना ही निर्मल प्रेम है उतना ही उसमें ईश्वर का निवास है। जल से भरा हुआ बादल आकाश से उतर कर भूमि के निकट आजाता है और अपनी देह को बूंद बूंद गलाकर प्यासी पृथ्वी के मुँह में टपका देता है, भक्त का-प्रेमी का यही लक्षण है, ऊँची संपदाऐं लेकर वह आकाश में नहीं रहना चाहता वरन् नीचे दर्जे का सादा जीवन पसन्द करता है, छोटे, पतित, अज्ञान ग्रस्त, भूले भटकों को छाती से लगाता है और उनके दुख दूर करने के लिए अपनी शक्तियों को बूंद बूंद करके निचोड़ देता है इस पराभक्ति में भक्त को इतना अधिक आत्म संतोष और परमानंद प्राप्त होता है जिसकी तुलना और किसी सुख से नहीं हो सकती।

इस पराभक्ति का प्रारंभ गौणी भक्ति से होता है। उस भक्त वत्सल प्रेम धाम परमेश्वर को अन्तःकरण में उकसाने और मानसिक चेतना में स्थान देने के लिए बारबार नाम स्मरण करना होता है। नामके साथ उसके गुण का भी ध्यान हो जाता है, हाथी शब्द कहने से उस विशाल काय जन्तु के शरीर का ध्यान आ जाता है इसी प्रकार कुत्ता, बिल्ली, महल, नदी, पर्वत आदि शब्दों के उच्चारण के साथ ही उनका रूप गुण, ध्यान में आ जाता है। शब्द यद्यपि मुख की कुछ पेशियों की हलचल से ही उत्पन्न होता है तो भी वह शब्द ध्यान चेतना में एक रूप का भी बोध करता है। ईश्वर का नाम लेने से उस विश्वव्यापी चेतना का बोध होता है बारबार नाम लेने से अन्तःकरण और मस्तिष्क में वह हलचल बारबार होती है इस अभ्यास को

जारी रखने से उसे बार बार उकसाया हुआ भाव पुष्ट और विस्तृत हो जाता है। पत्थर पर रस्सी की घिसावट से गड्ढा पड़ जाता है इसी प्रकार बार बार नाम जपनेसे ईश्वर की मनमें स्थापना होजाती है। भगवान की मूर्ति का दर्श, स्पर्श, भोग, आरती, धूप, दीप आदि से पूजा अर्चा करना, कीर्तन करना, हरि चर्चा करना, तीर्थ यात्रा, स्नान ध्यान, व्रत, वन्दन करना यह सब ऐसे ही आरंभिक प्रयत्न हैं जिनके द्वारा भक्त यह प्रयत्न करता है कि ईश्वर का मेरे अन्तःकरण में निवास हो, यदि उसका प्रयत्न शुद्ध भावना से हुआ है तो अवश्य ही एक दिन भक्ति भावना जागृत हो आती है, निर्मल एवं व्यापक प्रेम की कली खिल जाती है और परा भक्ति का आनंद लेने लगता है।

भक्तियोग आध्यात्मिक वृद्धावस्था की साधना है। ज्ञान और कर्म द्वारा पुष्ट हुए वृक्ष पर भक्ति का फल लगता है। वृद्ध पुरुष जो दृष्टि मंद होजाने के कारण स्वाध्याय नहीं कर सकते, स्मृति नष्ट होजाने के कारण ज्ञानार्जन नहीं करते, शरीर शिथिल होजाने के कारण कर्म करने की भी सामर्थ नहीं, जो मृत्यु के मुख में एक पांव लटकाये बैठे हैं, उनके लिए भक्ति में, नाम जप में, ईश्वर के ध्यान में ही सारा समय लगाना चाहिए, जिनका शरीर अशक्त है उन्हें ज्ञान कर्म की सीढ़ियों पर चढ़कर पराभक्ति की उपासना करना चाहिए। यही सनातन विधान है।

❀ इति ❀

मनुष्य को देवता बनाने वाली पुस्तकें।

यह बाजारू किताबें नहीं हैं, इनकी एक एक पंक्ति के पीछे गहरा अनुभव और अनुसंधान है। विनम्र शब्दों में हमारा दावा है कि इतना खोज पूर्ण अलभ्य साहित्य इतने स्वल्प मूल्य में अन्यत्र नहीं मिल सकता।

(१) मैं क्या हूं? |=)
(२) सूर्य चिकित्सा विज्ञान |=)
(३) प्राण चिकित्सा विज्ञान |=)
(४) पर काया प्रवेश |=)
(५) स्वस्थ और सुन्दर बनने की अद्भुत विद्या |=)
(६) मानवीय विद्युत के चमत्कार |=)
(७) स्वर योग से दिव्य ज्ञान |=)
(८) भोग में योग |=)
(९) बुद्धि बढ़ाने के उपाय |=)
(१०) धनवान बनने के गुप्त रहस्य |=)
(११) पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि |=)
(१२) वशीकरण की सच्ची सिद्धि |=)
(१३) मरने के बाद हमारा क्या होता है? |=)
(१४) जीव जन्तुओं की बोली समझना |=)
(१५) ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है? |=)
(१६) क्या धर्म? क्या अधर्म? |=)
(१७) गहना कर्मणोगतिः |=)
(१८) जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश |=)
(१९) पंचाध्यायी धर्म नीति शिक्षा |=)

जारी रखने से उसे बार बार उकसाया हुआ भाव पुष्ट और विस्तृत हो जाता है। पत्थर पर रस्सी की घिसावट से गड्ढा पड़ जाता है इसी प्रकार बार बार नाम जपनेसे ईश्वर की मनमें स्थापना होजाती है। भगवान की मूर्ति का दर्श, स्पर्श, भोग, आरती, धूप, दीप आदि से पूजा अर्चा करना, कीर्तन करना, हरि चर्चा करना, तीर्थ यात्रा, स्नान ध्यान, व्रत, वन्दन करना यह सब ऐसे ही आरंभिक प्रयत्न हैं जिनके द्वारा भक्त यह प्रयत्न करता है कि ईश्वर का मेरे अन्तःकरण में निवास हो, यदि उसका प्रयत्न शुद्ध भावना से हुआ है तो अवश्य ही एक दिन भक्ति भावना जागृत हो आती है, निर्मल एवं व्यापक प्रेम की कली खिल जाती है और परा भक्ति का आनंद लेने लगता है।

भक्तियोग आध्यात्मिक वृद्धावस्था की साधना है। ज्ञान और कर्म द्वारा पुष्ट हुए वृक्ष पर भक्ति का फल लगता है। वृद्ध पुरुष जो दृष्टि मंद होजाने के कारण स्वाध्याय नहीं कर सकते, स्मृति नष्ट होजाने के कारण ज्ञानार्जन नहीं करते, शरीर शिथिल होजाने के कारण कर्म करने की भी सामर्थ नहीं, जो मृत्यु के मुख में एक पांव लटकाये बैठे हैं, उनके लिए भक्ति में, नाम जप में, ईश्वर के ध्यान में ही सारा समय लगाना चाहिए, जिनका शरीर अशक्त है उन्हें ज्ञान कर्म की सीढ़ियों पर चढ़कर पराभक्ति की उपासना करना चाहिए। यही सनातन विधान है।

❀ इति ❀

मनुष्य को देवता बनाने वाली पुस्तकें।

यह बाजारू किताबें नहीं हैं, इनकी एक एक पंक्ति के पीछे गहरा अनुभव और अनुसंधान है। विनम्र शब्दों में हमारा दावा है कि इतना खोज पूर्ण अलभ्य साहित्य इतने स्वल्प मूल्य में अन्यत्र नहीं मिल सकता।

(१) मैं क्या हूं ? ।=)
(२) सूर्य चिकित्सा विज्ञान ।=)
(३) प्राण चिकित्सा विज्ञान ।=)
(४) पर काया प्रवेश ।=)
(५) स्वस्थ और सुन्दर बनने की अद्भुत विद्या ।=)
(६) मानवीय विद्युत के चमत्कार ।=)
(७) स्वर योग से दिव्य ज्ञान ।=)
(८) भोग में योग ।=)
(९) बुद्धि बढ़ाने के उपाय ।=)
(१०) धनवान बनने के गुप्त रहस्य ।=)
(११) पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि ।=)
(१२) वशीकरण की सच्ची सिद्धि ।=)
(१३) मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ।=)
(१४) जीव जन्तुओं की बोली समझना ।=)
(१५) ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ।=)
(१६) क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ।=)
(१७) गहना कर्मणोगतिः ।=)
(१८) जीवन की गूढ गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश ।=)

(१९) पंचाध्यायी धर्म नीति शिक्षा ।=)

मुद्रक— पं० हरचरन लाल शर्मा पुखराज प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा।